वैशेषिक दर्शन

डाक्टर गंगानाथ झा एम० ए०
लिखित
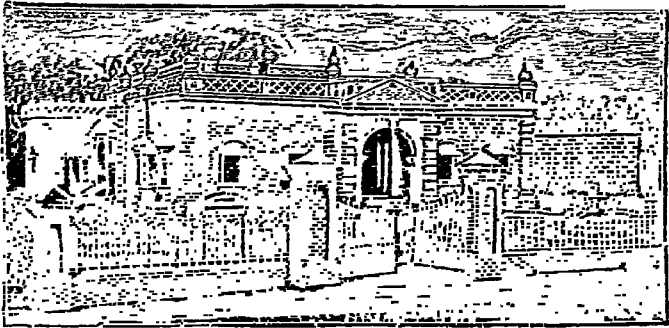
काशीनागरीप्रचारिणी सभा द्वारा
प्रकाशित

मूल्य ।=)

वैशेषिक दर्शन।

[औलूक्य]

वैशेषिक दर्शन के आदि प्रवर्तक ऋषि कणाद हैं। यह 'कणभुक्' 'कणभक्ष' इत्यादि नामों से भी ग्रंथों में प्रसिद्ध हैं। त्रिकाण्ड-शेष कोष में इन का नाम 'काश्यप' भी कहा है। कणाद कश्यप के पुत्र थे ऐसा किरणावली में लिखा है। एक नाम इन का 'औलूक्य' भी है। इस से इन को लोग उलूक ऋषि का पुत्र बतलाते हैं। ये उलूक मुनि विश्वामित्र के पुत्र थे यह महाभारत अनुशासन पर्व ४ अध्याय में लिखा है। वायु पुराण, पूर्वखण्ड, २३ अध्याय में कणाद के प्रसङ्ग में लिखा है कि वे सत्ताइसवीं चौयुगी में प्रभास क्षेत्र में शिव जी के अवतार सोमशर्मा नाम ब्राह्मण के शिष्य थे। इस से ऐसा मालूम होता है कि कश्यप गोत्र में, विश्वामित्र के पुत्र उलूक के पुत्र, सोमशर्मा के शिष्य कणाद रहे। इन के सूत्र 'कणाद सूत्र', 'वैशेपिक दर्शन' इत्यादि नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे एक एक सूत्र की टीका रूप से 'भाष्य' और सूत्रों के हैं वैसा भाष्य वैशेपिक सूत्रों का कोई अब तक उपलब्ध नहीं है। प्रशस्त पाद की टीका 'भाष्य' कर के प्रसिद्ध है। पर इस ग्रन्थ के देखने से मालूम होता है कि यह सूत्रों की टीका नहीं है। सूत्रों के क्रम तक को इस में नहीं स्वीकार किया है । सूत्रों के आधार पर यह एक स्वतंत्र ही ग्रन्थ है। इस को 'भाष्य' कहना ठीक नहीं। पर सूत्रों को छोड़ कर यही ग्रन्थ वैशेपिक विषय पर सब से प्राचीन अब तक मिला है इस से इस को लोगों ने 'भाष्य' मान लिया है। प्रशस्तपाद ने अपने ग्रन्थ का नाम भी 'भाष्य' नहीं रक्खा—इस का नाम 'पदार्थधर्मसंग्रह' प्रथम श्लोक में कहा है। इस पर टीका जो 'न्यायकन्दली' नाम से प्रसिद्ध है उस में कहीं 'भाष्य' नाम से इस ग्रन्थ को नहीं कहा है। न्यायकन्दली की केवल एक पुस्तक पाई गई है जिस में मूलग्रन्थ को 'भाष्य' कहा है। फिर प्रशस्तपाद के ग्रन्थ की टीका-किरणावली-में लिखा है कि प्रशस्तपाद ने इस पदार्थधर्मसंग्रह को लिखा—'क्योंकि

भाष्य बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इस पर पद्मनाभ मिश्र टीकाकार ने लिखा है कि 'यह भाष्य रावण का किया है'। इस रावण कृत भाष्य की चर्चा वेदान्त भाष्य की रत्नप्रभा टीका में भी पाई जाती है। फिर भाष्य के लक्षण भी इस ग्रन्थ में नहीं पाए जाते। सूत्रों के अनुसार जिस में सूत्र पदों का अर्थ हो उसी को भाष्य कहते हैं। प्रशस्तपाद भाष्य की भूमिका में जिस तरह यह लक्षण इस ग्रन्थ में लगाया गया सो मन में नहीं बैठता। फिर जब एक बड़ा 'भाष्य' दूसरा है- ऐसा किरणावली ऐसे प्राचीन ग्रन्थ के लेख से स्पष्ट मालूम होता है-तब इस ग्रन्थ को भाष्य कहने का आग्रह ही क्यों? भाष्य ही होने से ग्रन्थ प्राचीन नहीं होता। बिना भाष्य हुए भी यह ग्रन्थ भाष्यों से प्राचीन हो सकता है। परन्तु वर्धमान उपाध्याय न्यायनिबन्धप्रकाश में-'सूत्रं बुद्धिस्थीकृत्य तत्पाठनियमं-विना तद्व्याख्यानं भाष्यम्-ऐसा लक्षण करके प्रशस्त-पाद के ग्रन्थ को 'भाष्य' बतलाया है।

प्रशस्तपाद के ग्रन्थ पर किरणावली और न्यायकंदली दो टीकायें प्रसिद्ध हैं। सूत्रों पर टीका, शंकर मिश्र का उपस्कार, आज कल उपलब्ध है। सूत्रों पर इस से प्राचीन कोई टीका अभी नहीं मिली है। सूत्रों पर एक वृत्ति भारद्वाज मुनि की की हुई है। सम्भव है यह 'भारद्वाज' न्यायवार्तिककार उद्योतकर ही हों। यह वृत्ति प्रायः प्रशस्तपाद के भाष्य से अधिक प्राचीन है। पर इस की पोथियां नहीं मिलतीं। एक आध प्रति बनारस में है।

प्रकरणग्रन्थ इस दर्शन के अनेक हैं। सप्तपदार्थी तर्कसंग्रह तर्कामृत-चषक-तर्ककौमुदी-मुक्तावली-इत्यादि।

वैशेषिकों का परमाणुवाद-परमाणु से सृष्टि होती है सो मत-और शब्द अनित्य है-यह मत मीमांसक और वेदान्तियों को नास्तिकता से मालूम पड़े। इस से वैशेषिकों को कुमारिल ने बौद्धों के समान नास्तिक (अर्थात् वेदनिन्दक) बतलाया है और शंकराचार्य ने इन को 'अर्धवैनाशिक'-आधा बौद्ध-कहा है। परन्तु प्रशस्तपाद ने ग्रन्थ के आरम्भ में महादेव को नमस्कार किया है-और 'महेश्वर की इच्छा से सृष्टि होती है' यह स्पष्ट लिखा है। इस से इन को नास्तिक कहना ठीक नहीं मालूम होता।

गौतम ने न्याय सूत्रों में दो वादी प्रतिवादी के बीच शास्त्रार्थ रूप से अपने शास्त्र की रचा है–उसी के अनुकूल उन्होंने अपने सोलह पदार्थों का निरूपण किया है । इसीसे न्याय सूत्रों में फजूल बातों का विचार घुसेड़ दिया है ऐसा लोग आक्षेप करते हैं । वैशेपिक सूत्रों में यह बात नहीं है । इस में आरम्भ ही से मोक्ष कैसे होता है इसी का विचार किया है ।

कणाद ने पहिले सूत्र में प्रतिज्ञा की है कि मैं 'धर्म की व्याख्या करता हूं' अर्थात् धर्म क्या वस्तु है सो समझाऊंगा । धर्म का विचार आवश्यक है क्योंकि विना धर्म के पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता । दूसरे सूत्र में धर्म का लक्षण कहा है–'जिस से पदार्थों का तत्त्वज्ञान होने पर मोक्ष होता है वही धर्म है' । अर्थात् धर्म से पदार्थों का ज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है । यह धर्म कौन सी वस्तु है जिससे तत्त्वज्ञान होता है ? काम्य कर्मों से निवृत्ति और नित्य कर्मों का अनुष्ठान–इत्यादि जो वेद में कहे हैं वही धर्म है ।

वह कौन सा 'तत्वज्ञान' है जिस से मोक्ष होता है ? चौथे सूत्र में कहा है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये छओ पदार्थ क्या हैं-इन का क्या लक्षण है-कौन से लक्षण किन किन पदार्थों में हैं-इन में से किन में क्या साधर्म्य है क्या वैधर्म्य है-इत्यादि के ज्ञान को ' तत्वज्ञान ' कहते हैं । और इसी तत्वज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष होता है ।

यहां पदार्थ छही कहे हैं । प्राचीन वैशेपिक ग्रन्थों में ये ही छ हैं । सप्त पदार्थों में पहिले सातवां पदार्थ 'अभाव' माना है ।

ये द्रव्यादि पदार्थ कौन से हैं, इनके लक्षण– साधर्म्य वैधर्म्य, क्या हैं इत्यादि विचार पांचवें सूत्र से लेकर अन्त तक किया है ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय येही पदार्थ सूत्र (१.१.४) में कहे हैं । प्रशस्तपाद ने भी येही छ पदार्थ कहे हैं । 'पदार्थ' उसको कहते हैं जिसका ज्ञान हो सके । इससे जितनी चीजें संसार में हैं सभी 'पदार्थ' कहलाती हैं । वे कुल चीजें इन्हीं छओं के अन्तर्गत हैं । इन छओं से बाहर कोई भी चीज नहीं हो सकती । ये छ ' भाव ' पदार्थ हैं और हर एक वस्तु अपने विपरीत को सूचित

करती है । इस से इन पदार्थों के विपरीत एक पदार्थ 'अभाव' नवीन वैशेषिकों ने मान लिया है । जितनी चीजों का ज्ञान होता है वे क्या भावरूप हैं या अभावरूप । भावरूप जितनी हैं वे क्या द्रव्य हैं वा गुण वा कर्म वा सामान्य वा विशेष वा समवाय । पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान से यह मतलब है कि इसी तरह कुल पदार्थों के यथार्थ लक्षण का ज्ञान हो सकता है । कौन कौन गुण किन किन पदार्थों में है इस के जानने ही से पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है । इसी से प्रशस्तपाद भाष्य से लेकर मुक्तावली पर्यन्त सब वैशेषिक ग्रन्थों में पहिले पदार्थों के साधर्म्य का विचार कर के फिर वैधर्म्य का विचार किया है । वैधर्म्य के विचार ही से एक एक कर सब पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है ।

अब इन पदार्थों के परस्पर साधर्म्य वैधर्म्य का विचार करना आवश्यक है । पहिले साधर्म्य का विचार किया गया है, अर्थात् कौन कौन सी चीजें एक तरह की समझी जा सकती हैं । इस के बाद इन सभों के वैधर्म्य का विचार होगा; अर्थात् एक एक करके इन के क्या लक्षण हैं, क्या स्वभाव हैं, इत्यादि बातों पर विचार होगा ।

छओं पदार्थों का साधर्म्य यही है कि ये सब वर्तमान हैं-शब्दों से कहे जा सकते हैं और इनका ज्ञान हो सकता है ।

नित्य द्रव्यों को छोड़ कर और जितनी चीजें हैं उन सभों का यह साधर्म्य है कि वे आश्रित हैं, अर्थात् किसी आधार पर रहती हैं ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष—इन पांचों का यही साधर्म्य है कि ये अनेक हैं और द्रव्यों के साथ इनका नित्य सम्बन्ध रहता है ।

गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, इन पांचों का साधर्म्य है कि इन के कोई गुण या कर्म नहीं हैं ।

द्रव्य, गुण, कर्म, इन तीनों का साधर्म्य है कि इन में सत्ता रहती है-इन के सामान्य (जातियां) होती हैं, इन के विशेष भी होते हैं और धर्म अधर्म के कारण होते हैं ।

सभी रहती हैं इस का यह तात्पर्य नहीं है कि ये वर्तमान हैं तात्पर्य यह है कि 'सत्ता' इन में जाति रहती है अर्थात् 'सत्ता' जो एक जाति है उस में द्रव्य, गुण, कर्म अन्तर्गत हैं । और पदार्थ यद्यपि

वर्तमान या सत् है तथापि उनमें 'सत्ता' जाति हैं ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म इन्हीं तीन पदार्थों में सामान्य या जाति रह सकती है।

जितनी वस्तुओं के कारण हैं वे सब कार्य हैं और अनित्य हैं, यही इन का साधर्म्य है।

परमाणु के परिमाण को छोड़ कर और जितनी चीजें हैं इन सभों में यही साधर्म्य है कि ये कारण हो सकती हैं।

सामान्य, विशेष और समवाय, इन तीनों का साधर्म्य यह है कि इनका विकार नहीं होता। अपने अपने रूप से ये सदा बने रहते हैं। बुद्धि ही से केवल इनका ज्ञान हो सकता है, इन्द्रियादि से नहीं, ये कार्य नहीं होते, कारण नहीं होते। इन का सामान्य या विशेष नहीं होता, ये नित्य हैं।

द्रव्य गुण का साधर्म्य है कि दोनों अपनी सजातीय वस्तु उत्पन्न करते हैं।

पृथिवी, जल, तेज (अग्नि). वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन ये नव 'द्रव्य' कहलाते हैं। गुणों का आधार जो हो सके, जिस में गुण का आधार होने की सामर्थ्य हो, वही 'द्रव्य' कहलाता है। और पृथिव्यादि जो नौ चीजें हैं उन्हीं में गुण रह सकते हैं। इन से अलग कोई गुण कहीं भी नहीं रह सकता है। इस से इन नवों चीजों में यही साधर्म्य है कि ये गुणों के आधार हो सकती हैं—अर्थात् द्रव्य हैं। इन नवों के और साधर्म्य ये हैं कि इन का विकार होता है, इन के गुण हैं, कार्य या कारण से इन का नाश नहीं होता और इन में अन्त्य विशेष होते हैं।

अवयव वाले द्रव्यों को छोड़ कर और जितने द्रव्य हैं उन का यह साधर्म्य हैं कि ये किसी आधार पर नहीं रहते और नित्य हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा और मन का यह साधर्म्य है कि ये अनेक हैं और इन की पर अपर दोनों तरह की जाति होती है।

पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और मन का यह साधर्म्य है कि इन में क्रिया होती है—ये मूर्त हैं अर्थात् स्थूल मूर्तिवाले हैं। इनमें परत्व अपरत्व और वेग है।

आकाश, काल, दिक्, आत्मा, इन का साधर्म्य यह है कि ये सर्व-व्यापी हैं-इनका परिमाण परम है, ये इतने बड़े हैं कि जिस से बड़ा दूसरा नहीं हो सकता ।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इनका साधर्म्य है कि ये भूत हैं–एक एक बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य हैं । और इन्द्रियां इन्हीं के विकार हैं ।

पृथिवी, जल, वायु, अग्नि इनका साधर्म्य है कि इनका स्पर्श होता है और ये ही समवाय कारण होते हैं ।

पृथिवी, जल, अग्नि, का साधर्म्य है कि ये प्रत्यक्ष हैं, इन में रूप और द्रवत्व है ।

पृथिवी, जल का साधर्म्य है कि इन्हीं में गुरुत्व और रस है ।

पृथिव्यादि पांचों भूत और आत्मा, इनका साधर्म्य है कि इनके विशेष गुण होते हैं ।

आकाश और आत्मा का साधर्म्य, हैं कि इनके जितने विशेष गुण हैं सब क्षणिक हैं और इनके एक एक अंशों ही में ये गुण रहते हैं ।

दिक्, काल का साधर्म्य है कि कुल कार्यों के ये निमित्त कारण होते हैं ।

पृथिवी, अग्नि का साधर्म्य है कि इनके नैमित्तिक द्रवत्व है ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द–ये २४ 'गुण' हैं अर्थात् ये चौवीस द्रव्यों में रहते हैं और इनका स्वयं कोई कर्म नहीं है । यही इनका साधर्म्य है ।

उत्क्षेपण (ऊपर फेकना)-अपक्षेपण (नीचे फेकना)-आकुंचन (सकोड़ना)-प्रसारण (फैलाना) और गमन (जाना या चलना). ये पांच 'कर्म' हैं । कर्म वही है जिस से दो वस्तुओं का संयोग उत्पन्न होता है । इस से पांच कर्म जो गिनाये हैं उनका साधर्म्य यही है कि ये संयोग उत्पन्न करते हैं । घूमना-बहना-जलना-गिरना इत्यादि जितनी क्रियायें हैं वे सब 'गमन' के अन्तर्गत हैं ।

पर और अपर ये दो 'सामान्य' हैं-सामान्य उसको कहते हैं जो नित्य है, एक है, और अनेक वस्तु में एक काल में रहता है । अर्थात् जिसके द्वारा अनेक वस्तुओं का एक ज्ञान हो सकता है । इस से यहाँ पर अपर का साधर्म्य हुआ ।

'विशेष' वे हैं जिनके द्वारा नित्य द्रव्य में विभेद होता है । अर्थात् जिनके द्वारा भिन्न भिन्न परमाणु का भिन्न भिन्न ज्ञान उत्पन्न होता है । जितने नित्य द्रव्य हैं उतने ही विशेष भी हैं । इनका यही साधर्म्य है कि ये नित्य द्रव्यों में रहते हैं और भिन्न भिन्न व्यक्ति को भिन्न भिन्न ज्ञान उत्पन्न करते हैं ।

जो चीजें कभी एक दूसरे से अलग नहीं पाई जातीं और जो एक दूसरे का आधार होती हैं-इनका जो यह नित्य सम्बन्ध है उस को 'समवाय' कहते हैं । जितने ऐसे सम्बन्ध हैं उनका यही साधर्म्य है कि वे 'समवाय' अर्थात् नित्य सम्बन्ध हैं ।

पदार्थों के साधर्म्य यों हैं । अब इनके वैधर्म्य का विचार करते हैं । अर्थात् किस पदार्थ में क्या खास गुण है क्या खास लक्षण है जिस से वह और पदार्थों से भिन्न समझा जाता है, यह एक एक पदार्थ को लेकर निरूपण करेंगे ।

द्रव्य ।

पदार्थों में सब से पहिले 'द्रव्य' कहा है । और पदार्थों से द्रव्य का वैधर्म्य यही है कि यह गुणों का और कर्मों का आश्रय होता है और यही समवायि कारण होता है । (सूत्र १.१.१५) । द्रव्य नव हैं– पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन ।

पृथिवी ।

पृथिवी का वैधर्म्य है गन्ध–अर्थात् गन्ध एक ऐसा गुण है जो केवल पृथिवी में रहता है और किसी द्रव्य में नहीं (सू. २. २. २) । इस के अतिरिक्त और गुण पृथिवी में ऐसे भी हैं जो और द्रव्यों में

भी हैं, जैसे रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, संस्कार । सूत्र में (२.१.१.) 'रूप-रस-गंध-स्पर्शवती पृथिवी' ऐसा ही कहा है-पर भाष्य में ये चौदहों कहे हैं । रूप पृथिवी के शुक्ल आदि अनेक होते हैं । रस छ प्रकार के हैं-मीठा, खट्टा, लवण, कडुआ, तीता, कषाय । गंध दो प्रकार का है-सुगंध और दुर्गन्ध । स्पर्श इसका असल में न ठंढा ही है न गरम-परन्तु अग्नि के संयोग से बदलता रहता है ।

पृथिवी दो प्रकार से संसार में पाई जाती है । नित्य और अनित्य । परमाणुरूप से नित्य और कार्य-स्थूल-वस्तु रूप से अनित्य । कार्य रूप पृथिवी से बनी हुई स्थूल चीज़ तीन प्रकार की होती हैं । शरीर इन्द्रिय और विषय । आत्मा का भोगायतन-जिस आधार में रह कर आत्मा को सुख दुःख का भोग होता है उसको 'शरीर' कहते हैं । शरीर दो प्रकार के होते हैं-योनिज और अयोनिज । अयोनिज शरीर देवताओं और ऋषियों के होते हैं-इनके शरीर की उत्पत्ति में शुक्र शोणित संयोग की अपेक्षा नहीं होती । इनके धर्म का पृथिवी-परमाणुओं पर असर ऐसा पड़ता है कि इनके शरीर उत्पन्न हो जाते हैं । इसी तरह क्षुद्र कीड़े खटमल इत्यादि के शरीर भी विना शुक्र शोणित संयोग ही के उत्पन्न होते हैं—केवल उनके अधर्म का असर पृथिवी परमाणुओं पर पड़ने से । शुक्र शोणित के मिलने से जो शरीर उत्पन्न होता है वही योनिज है । ये दो तरह के होते हैं । जरायुज, जैसे मनुष्यादि शरीर और अण्डज जैसे पक्षियों के शरीर ।

जिस से संयुक्त होकर मन आत्मा का संयोग पाकर प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है उसी को इन्द्रिय कहते हैं । वैशेषिकों का मत है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में जिस विषय का ज्ञान होता है उस का संयोग इन्द्रिय से होता है । फिर मन का संयोग उस इन्द्रिय से होता है, तब मन का संयोग आत्मा से होता है-तदनन्तर इस आत्मा में उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । इससे न्यायकंदली में (पृ० ३२) आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान का जो साधन या कारण है उसी को 'इन्द्रिय कहा है' । पृथिवी का बना हुआ इन्द्रिय वह है जिस से गन्ध का ग्रहण होता है-अर्थात् घ्राणेन्द्रिय-नाक । यह इन्द्रिय पृथिवी का

धना है इस में सबूत यही है कि गुणों में गंध ही का ग्रहण इससे होता है और गंध गुण केवल पृथिवी में है ।

पृथिवी के विषय मिट्टी, पत्थर, वृक्ष इत्यादि हैं । यद्यपि शरीर और इन्द्रिय का भी ज्ञान होता है-इससे ये भी 'विषय' कहला सकते हैं-पर जिस शरीर में या जिस इन्द्रिय के द्वारा आत्मा में ज्ञान होता है वह शरीर या इन्द्रिय उस आत्मा के ज्ञान का विषय नहीं होता । इसीसे शरीर और इन्द्रिय को ' विषय ' से अलग कहा है । न्यायकन्दली (पृ० ३२) में शरीर और इन्द्रिय के अतिरिक्त जो आत्मा के उपभोग के साधन होते हैं उन्हीं को विषय कहा है । आत्मा के भोग-सुखदुःख-में जिनका उपयोग होता है अर्थात् जिनका ज्ञान होता है, जिन के पाने न पाने से आत्मा को सुख दुःख होता है, वे ही विषय हैं ।

वृक्षों को प्रशस्तपाद ने 'विषय' माना है । कुछ लोगों का मत है कि इन में चेष्टा होती है, इस से वृक्षों को ' शरीर ' कहना उचित है । ऐसा मत विश्वनाथ का है । पर शंकर मिश्र (उपस्कार में) कहते हैं कि इन में चेष्टा है इस का दृढ प्रमाण नहीं मिलता है, इससे यद्यपि इन में शरीरत्व हो भी तथापि इनको ' शरीर ' कहना ठीक नहीं ।

जल ।

शीत स्पर्श जिस द्रव्य में है वही जल है [सूत्र २.२. ५] । जल के गुण [सूत्र २.१.२ में] रूप रस स्पर्श द्रवत्व और स्नेह कहे हैं । पर भाष्य में उन के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, संस्कार भी कहे हैं (पृ. ३५) । जल का रूप शुक्ल है । जब जल में दूसरा रंग देख पड़ता है तब वह रंग जल में मिली हुई किसी दूसरी चीज का है । जैसे लाल स्याही में से अगर लाल बुकनी अलग कर दी जाय तो खाली पानी का रंग सफेद रह जायगा । जल का रस मीठा है । छ तरह के रस होते हैं । कड़ुआ तीता मीठा खट्टा लवण कषाय । इन में से मीठा छोड़ कर और कोई भी रस पानी में नहीं पाया जाता । वैसे तो मीठापन भी

साफ साफ नहीं मालूम होता, पर जब हर्रे या आँवला खाकर पानी पीया जाता है तो मीठापन साफ मालूम होता है । स्पर्श इस का शीत है । जब तक बाहर से गरमी न लगाई जाय तब तक पानी ठंढा ही मालूम होता है । स्वाभाविक द्रवत्व-अर्थात् बिना बाहर से गरमी लगाये हुये भी बहना-यह गुण केवल जल ही में है । और जितनी चीजें हैं वे गल कर तभी बह सकती हैं जब गरमी लगाई जाय । जल में ऐसा नहीं है, वह स्वयं बहता ही रहता है । स्नेह-चिकनाहट-भी जल ही का गुण है, बगैर जल के चिकनाहट नहीं होती ।

परमाणु और कार्य-इन्हीं दो रूप में जल भी पाया जाता है । परमाणु नित्य है, कार्य अनित्य । शरीर इन्द्रिय विषय कार्यरूप जल के भी हैं । जलीय शरीर वरुण लोक में पाए जाते हैं । इन शरीरों में केवल जल ही रहता है ऐसा नहीं । मुख्य द्रव्य इन में जल रहता है; जैसे हम लोगों के शरीर में केवल पृथिवी नहीं है, पांचो भूत हैं तथापि ये पार्थिव कहलाते हैं क्योंकि प्रधान द्रव्य इन में पृथिवी है । जलीय इन्द्रिय है जिह्वा । विषय है नदी समुद्र बरफ़ इत्यादि ।

तेजस् (अग्नि) ।

उष्ण (गरम) स्पर्श जिस में है वही तेजस् या अग्नि है । गरमी केवल तेज ही में है (सूत्र २.२. ४) । तेज के गुण सूत्र में (२. १. ३) रूप और स्पर्श दो ही कहे हैं । पर भाष्य में इनके अतिरिक्त विशेष गुण संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग वियोग परत्व अपरत्व द्रवत्व संस्कार भी कहे हैं (पृ. ३८) । इसका रूप शुद्ध भास्वर—सफ़ेद चमकीला है । स्पर्श गरम है ।

तेज भी दो प्रकार का है, परमाणु रूप और कार्यरूप। शरीर इन्द्रिय विषय तीन प्रकार के कार्य हैं । तैजस शरीर अयोनिज सूर्यलोक के वासियों का ही है । तैजस इन्द्रिय आंख है । इससे केवल रूप का ग्रहण होता है । तेजस् विषय चार प्रकार के हैं । भौम(भूमि सम्बन्धी)जैसे लकड़ी कोयले के जलाने से उत्पन्न आग; दिव्य—जैसे सूर्य नक्षत्रादि विद्युत् के तेज; उदर्य-प्राणियों के उदर सम्बन्धी-जैसे पेट की आग जिस से आहार का पाक होता है; आकरज-खान से उत्पन्न-जैसे

सोना चांदी इत्यादि । भाम और दिव्य तेज का तेज होना तो साफ़ है । पेट की आग को आग इस लिये माना है कि विना आग के किसी तरह का पाक नहीं हो सकता और विना आग के गरमी भी नहीं उत्पन्न हो सकती; और हम देखते हैं कि पेट में जाकर अन्न पचता है, उसका रूपान्तर होता है और इस पचने से शरीर में गरमी पैदा होती है । इस से हम समझ सकते हैं कि पेट में आग है । सुवर्णादि धातु पिघल कर फिर पिछली ही अवस्था में रहते हैं न गरमी से ठोस ही हो जाते और न जल कर खाक ही होते हैं । इस से ये पृथिवी द्रव्य नहीं कहे जा सकते । इनका स्वरूप ठोस है इस से ये जल नहीं हो सकते । स्पर्श है इस से वायु नहीं । इस लिये इन को तेजस् अवश्य मानना चाहिये ।

पदार्थ विद्या जिस अवस्था में प्राचीन समय में थी उसके अनुसार इस युक्ति का उत्तर नहीं हो सकता । पर अब हम लोग जानते हैं कि आज कल जितने गरमी पहुंचाने के यन्त्र हैं उनमें यदि सोना डाल दिया जाय तो भस्म हो जाता है । पुराने समय में भी रसायन शास्त्रवाले इनका भस्म करते थे पर यह भस्म औषधियों के द्वारा होता था इससे स्वतंत्र सोना भस्म होता है इस बात को वैशेषिकों ने नहीं स्वीकार किया ।

तेजस् विषयों का एक और विभाग शंकर मिश्र ने कणादरहस्य में बतलाया है । (१) जिसका रूप और स्पर्श उद्भूत अर्थात् अनुभव योग्य हो, जैसे सूर्य का तेज । (२) जिसका रूप उद्भूत है पर स्पर्श अनुद्भूत, जैसे चन्द्रमा का तेज । (३) जिसके रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत हैं जैसे आँखों का तेज । (४) जिसका रूप अनुद्भूत है और स्पर्श पूरे तौर पर उद्भूत, जैसे तपाई हुई मिट्टी की हांडी में या तपाए तेल में ।

वायु ।

जिस द्रव्य में ऐसा स्पर्श है जो न गरम हो न ठंढा, वही वायु है ॥ वायु के गुण हैं स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व, अपरत्व, संस्कार । वायु में रूप नहीं है । इससे पृथिवी, जल

तेज की तरह यह आंख से देखी नहीं जाती । सूत्र के अनुसार वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता । क्योंकि इस में रूप नहीं है (सूत्र ४ १, ७) भाष्य के भी मत में वायु का प्रत्यक्ष नहीं है (पृ. ४४) । यद्यपि वायु के स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है तथापि इस को वायु का प्रत्यक्ष नहीं कह सकते । क्योंकि स्पर्श का केवल ज्ञान होता है स्पर्शवान् द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता । अर्थात् जैसे रूपवाली वस्तु में रूप रूपी दोनों का प्रत्यक्ष होता है, पीला फल और पीला रंग दोनों देख पड़ते हैं, वैसे स्पर्श और स्पर्शवाले वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है । केवल स्पर्श का ज्ञान होता है । स्पर्श एक गुण है । इसका आधार कोई द्रव्य अवश्य होगा । इसी से अनुष्णा अशीत स्पर्श के आधार वायु का अनुमान ही होता है । इस में वायु के गुण का प्रत्यक्ष है और वायु का अनुमान ही होता है ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है । काणाद रहस्य में शंकर मिश्र और तर्क संग्रह में अन्नम्भट्ट ने भी ऐसा ही माना है । परंतु नवीन नैयायिक वायु का प्रत्यक्ष भी मानते हैं ।

वायु भी अणु कार्य रूप से दो प्रकार का है । कार्य रूप वायु चार प्रकार के हैं । (१) शरीर वायु, लोक के जीवों का है । (२) इन्द्रिय-जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है वह त्वगिन्द्रिय वायु ही से बनी है और शरीर में सर्वत्र रहती है । (३) विषय जिस को हम लोग हवा कहते हैं, जिसके द्वारा वृक्ष हिलते हैं, बादल इधर उधर उड़ते हैं, जिसका अनुमान स्पर्श, शब्द, कम्प इत्यादि से होता है । वायु नाना है इस में यही प्रमाण है कि अक्सर देखा गया है कि दो तरफ से हवा जोर से बहती है तो बीच में मिल कर दोनों की तेजी कट जाती है जिसे 'हवा गिर गई' ऐसा कहते हैं । और ऐसे विरुद्ध वायु वेग की टक्कर से धूल के या सूखी पत्तियों के चक्कर ऊपर उठते नजर आते हैं । (४) प्राण भी वायु का विषय है । यही शरीर के भीतर रस, मल, धातुओं का इधर उधर चालन करता है । यद्यपि यह है एक ही तथापि नाना कार्य करने के कारण से पांच माना गया है । जैसे मूत्रादि जिस वायु के द्वारा बाहर निकलता है उसे ' अपान ' कहते हैं । जिस के द्वारा रस नाड़ियों में फैलता है उस को ' व्यान ' कहते हैं । अन्न पानी जिस के द्वारा ऊपर आते हैं वह 'उदान' कहलाता है । जिस

के द्वारा पेट की आग अन्न के पचाने के लिये इधर उधर चलाई जाती है उसे 'समान' कहते हैं। मुख और नाक के द्वारा जो बाहर निकलता है उसे 'प्राण' कहते हैं। (प्रशस्तपाद श्रीधरी टीका पृ.४८)

प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कण्ठ में, व्यान सर्वत्र शरीर में रहता है ऐसा पुराणों का मत है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु कैसे उत्पन्न होते हैं।

आकाश, काल, दिक् और आत्मा इन चार द्रव्यों के अवयव नहीं होते। ये अपने रूप में सर्वदा बने रहते हैं। इन में घटती बढ़ती नहीं होती। इससे इनको नित्य माना है। इनकी उत्पत्ति नहीं होती नाश नहीं होता। पृथिवी आदि के अवयव होते हैं। इस से इनकी उत्पत्ति मानी गई है।

पृथ्वी आदि द्रव्यों की उत्पत्ति प्रशस्तपाद भाष्य (पृष्ट ४८,४९) में इस प्रकार वर्णित है।

जीवों के कर्मफल के भोग करने का समय जब आता है तब महेश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार जीवों के अदृष्ट के बल से वायु के परमाणुओं में चलन उत्पन्न होता है। इस चलन से उन परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है। दो दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं। तीन द्व्यणुक मिलने से त्रसरेणु। इसी क्रम से एक महान् वायु उत्पन्न होता है। उसी वायु में परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्व्यणुक त्रसरेणु इत्यादि क्रम से महान् जलनिधि उत्पन्न होता है। इस जल में पृथ्वी परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महा पृथ्वी उत्पन्न होती है। फिर उसी जलनिधि में तेजस् परमाणुओं के परस्पर संयोग से तेजस् द्व्यणुकादि क्रम से महान् तेजोराशि उत्पन्न होती है। इसी तरह चारों महाभूत उत्पन्न होते हैं।

यही संक्षेप में वैशेषिकों का 'परमाणुवाद' है। इसमें पहिली बात विचारने की यह है कि परमाणु मानने की क्या आवश्यकता है। इस पर वैशेषिकों का सिद्धान्त ऐसा है कि जितनी चीजें हम देखते

हैं और हमारे देखने योग्य हैं वे सब कई छोटे२ टुकड़ों से बनी हुई हैं। इन टुकड़ों के भी कई टुकड़े हैं। इस तरह एक२ टुकड़े को तोड़ते२ अन्त में जाकर ऐसे टुकड़े होंगे जिनके टुकड़ों को हम नहीं देख सकते। ऐसे टुकड़े का नमूना सूर्य की किरणों में जो छोटे २ कण देख पड़ते हैं उन्हें बतलाया गया है। इसके भी टुकड़े अवश्य होंगे क्योंकि मैं इसे देख सकता हूं। परन्तु इन टुकड़ों को मैं देख नहीं सकता। इसलिये इन टुकड़ों को अणु माना है। इस अणु के भी टुकड़े हैं, क्योंकि अगर इनके टुकड़े न होते तो इनसे बना हुआ पदार्थ देख नहीं पड़ता। इसी अन्तिम टुकड़े को 'परमाणु' कहते हैं। ऐसे दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों के मिलने से एक त्रसरेणु, इस क्रम से सब वस्तु उत्पन्न होती हैं।

टुकड़ा करने का अन्त कहीं न कहीं अवश्य मानना होगा। नहीं तो संसार में जितनी चीजें हैं सब ही में अनन्त टुकड़े मानने पड़ेंगे। सभी वस्तु एक परिमाण की होंगी अर्थात् जितने अनन्त टुकड़े, पृथ्वी के खण्ड, एक छोटे से मिट्टी के ढेले में, होंगे वैसेही अनन्त टुकड़े पहाड़ में भी होंगे। परन्तु यदि टुकड़ों का विराम परमाणु पर जाकर मान लिया जाय तो ऐसा नहीं होगा। छोटी चीज में थोड़े परमाणु होंगे बड़ी चीज में अधिक। इस तरह परमाणु भेद सिद्ध हो जाता है।

वैशेषिकों ने चार भूतों के चार तरह के परमाणु माने हैं, पृथ्वी परमाणु, जल परमाणु, तेज परमाणु, वायु परमाणु। पांचवें भूत आकाश के अवयव या टुकड़े नहीं हैं। वह निरवयव स्थिर भूत केवल शब्द का आधाररूप माना गया है। इन सब परमाणुओं के खास खास गुण हैं।

परमाणुओं का संयोग तीन प्रकार का होता है। (१) शुद्ध एक भौतिक वस्तु की उत्पत्ति में अनवरत चलते हुए परमाणु दो दो कर के संयुक्त होकर द्व्यणुक हो जाते हैं। फिर ये द्व्यणुक तीन, चार, पांच, छः इस क्रम से इकट्ठे हो कर नाना वस्तु बन जाते हैं। प्राचीन वैशेषिकों का यही मत है। परन्तु कुछ लोगों का ऐसा मत है कि दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक, तीन परमाणुओं के मिलने

से त्रसरेणु इत्यादि बनते हैं । परन्तु वैशेषिकों का शुद्ध मत यही है कि दो परमाणु से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुक से त्रसरेणु, चार द्व्यणुक से चतुरणुक इत्यादि । जैसे जैसे गुण परमाणु में होंगे वैसे ही वैसे गुण उनसे बने हुए सब वस्तुओं में होंगे । अर्थात् जो गन्ध जो गुरुत्व इत्यादि पृथ्वीपरमाणु में हैं वे ही सब पार्थिव वस्तुओं में हैं । वैशेषिकों का सिद्धान्त है कि कारणगुण पूर्वक ही कार्य के गुण होते हैं । पृथ्वी वायु इत्यादि भूतों की बनी वस्तु नाना आकार नाना रूप की होती हैं इसका कारण यह है कि भिन्न भिन्न वस्तु के द्व्यणुकों का या त्रसरेणुओं का संनिवेश, गठन, भिन्न भिन्न तरह का है । सामान्य रूप से यद्यपि वस्तुओं के गुण इस प्रकार हैं तथापि तेज (अग्नि) के संबन्ध से वस्तुओं के गुण में फेरफार आ जाता है, जैसे कच्चा घड़ा पकाये जाने पर लाल हो जाता है । इसमें वैशेषिकों का यह मत है कि अग्नि की तेजी से घड़े के टुकड़े २ हो जाते हैं । इस तरह परमाणुओं का रङ्ग बदल कर लाल हो जाता है । ये लाल परमाणु आपस में मिल मिला कर घड़े के रूप से परिणत होते हैं । यह घड़े का नष्ट और उत्पन्न होना ऐसे सूक्ष्म काल में होता है कि हम लोग इसे देख नहीं सकते । यही मत 'पीलुपाक मत' कहलाता है । नैयायिकों का मत ऐसा नहीं है । उनका मत है कि इस प्रकार अदृश्य नाश और उत्पत्ति मानने की कुछ आवश्यकता नहीं है । सब वस्तु में परमाणुओं का या द्व्यणुकों का संयोग इस प्रकार रहता है कि उनके बीच बीच में छिद्र रह जाते हैं । इन्हीं छिद्रों में अग्नि का तेज जाकर परमाणुओं का रूप बदल कर घट इत्यादि के रूप को बदल देता है (न्यायवार्तिक ३. १. ४) ।

(२) कई वस्तु ऐसी हैं जो कि एक ही भूत के बने हुए दो वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न हो कर उन दोनों वस्तुओं से भिन्न रूपादि गुण वाली उत्पन्न हो जाती हैं । जैसे शुक्र और शोणित के संयोग से शरीर उत्पन्न होता है । इसमें भी अग्नि के तेज के द्वारा शुक्रपिंड और शोणित पिण्ड दोनों खण्ड खण्ड होकर परमाणु रूप से अवस्थित होते हैं और फिर उसी तेज के बल से अपने खास खास गुण को खो कर एक सामान्य गुण का ग्रहण करते हैं । फिर परस्पर द्व्यणुकादि क्रम से संयुक्त हो कर शरीर रूप से परिणत हो जाते हैं । यह तो एक

भूत के बने हुए का संयोग हुआ । कभी कभी भिन्न भूतों से बने हुए वस्तुओं का संयोग देख पड़ता है। जैसे दूध में, तेल में, फलों के रस में पार्थिव और जलीय वस्तुओं का संयोग पाया जाता है। इन सब में पृथ्वी परमाणु जल में घुल कर जब जल परमाणु से वेष्टित हो जाते हैं तब जल परमाणु के उपष्टम्भ या जोर से पृथ्वी परमाणु में तेज के द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार के रूप, रस, गंध इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं । यहां एक भेद किरणावली में बतलाया है। उपष्टम्भक पांचों भूत हो सकते हैं । अर्थात् परमाणुओं के गुण परिवर्तन में पृथ्वी जल वायु सभी प्रवर्तक हो सकते हैं । परन्तु ऐसे परिवर्तन का निरोधक केवल पृथ्वी परमाणु हो सकता है ।

(३) कुछ द्रव्यों के संयोग ऐसे हैं कि ये परमाणु तक नहीं जाते, केवल ऊपर ऊपर संयोग मात्र है। जैसे जब मांस जल में पकाया जाता है तब मांस के पृथ्वी परमाणु में या जल के परमाणु में कुछ भेद नहीं उत्पन्न होता है ।

अग्नि के संयोग से परमाणुओं के गुण बदलते हैं । जहां प्रत्यक्ष अग्नि नहीं देख पड़ती वहां वस्तु के भीतर अग्नि है ऐसा सिद्धान्त वात्स्यायन का है (४-१-४७) । परन्तु किरणावली में सिद्धान्त किया है कि जहां जहां तेज के संयोग से गुण का परिवर्तन होता है तहां तहां सूर्य के किरणों ही का व्यापार मान लेना उचित है ।

भिन्न भिन्न भूता के बने हुए वस्तु जब मिलते हैं, जैसे पृथ्वी और जल फल के रस में, तब पृथ्वी परमाणु जल परमाणु से नहीं मिलते किन्तु एक पृथ्वी द्व्यणुक एक जल द्व्यणुक से संयुक्त होकर एक टुकड़ा हुआ, फिर ऐसे ही द्व्यणुक के जोड़े बनकर एक दूसरे से संयुक्त हो जाते हैं । (प्रशस्तपाद, संयोग प्रकरण) ।

आकाश ।

पांचवां द्रव्य आकाश है। शब्द गुणवाले द्रव्य को आकाश कहते हैं । इसके गुण हैं शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग । शब्द एक गुण है । इससे यह किसी द्रव्य में रहेगा । जितने द्रव्य स्पर्श वाले हैं, जिनका स्पर्श हो सकता, जिनको हम छू सकते हैं, ऐसे द्रव्यों का गुण शब्द नहीं हो सकता क्योंकि स्पर्श-

वान् द्रव्य के जितने गुण हैं सब जब तक वह द्रव्य रहता है तब तक स्थित रहते हैं और उस द्रव्य के अतिरिक्त और द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। जैसे लाल रंग, जब तक घट रहेगा तब तक रहेगा। और घट के अतिरिक्त और द्रव्यों में (कपड़े इत्यादि में) भी वह रंग रहता है। शब्द ऐसा नहीं है। इससे स्पर्शवाले द्रव्यों का गुण शब्द नहीं होसकता। अर्थात् पृथ्वी जल वायु अग्नि इन चार का गुण शब्द नहीं है। फिर आत्मा के जितने गुण हैं, बुद्धि इत्यादि, ये किसी बाह्य इन्द्रिय से नहीं जाने जा सकते हैं। और शब्द कान से गृहीत होता है। इससे शब्द आत्मा का गुण नहीं होसकता। इसी कारण मन का भी गुण नहीं हो सकता। दिक्काल के भी जितने गुण हैं उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इससे शब्द इनका भी गुण नहीं होसकता है। पृथ्वी जल वायु अग्नि आत्मा काल दिक् मन इन आठ द्रव्यों का गुण शब्द नहीं होसकता। इससे बाकी जो नवम द्रव्य आकाश रहा उसी का गुण शब्द माना गया है। सारांश यह है कि शब्द गुण जिस द्रव्य में रहता है उसी द्रव्य का नाम आकाश है।

शब्द एकही माना गया है और शब्दही आकाश का चिह्न है। इससे आकाश भी एकही है। परिमाण इसका 'परम महत्' है अर्थात् जिससे बड़ा नहीं हो सकता। आकाश की उत्पत्ति या नाश कभी नहीं देखे जाते, इससे वह नित्य है। शब्द आकाश का गुण है इससे शब्द का भान जिस इन्द्रिय से होता है—कान—उसको वैशेषिकों ने आकाशही माना है। अर्थात् कान के भीतर जो आकाश है उसीके द्वारा शब्दज्ञान होता है।

आकाश विभु सर्वत्र व्याप्त है। इसीसे इसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। अनुमान ही से इसका ज्ञान होता है। शब्द गुण का आधार द्रव्य कोई अवश्य होगा। पृथ्वी आदि द्रव्य शब्द के आधार नहीं हो सकते हैं। इससे आकाश एक द्रव्य है—इसी अनुमान से आकाश सिद्ध होता है।

काल

छठां द्रव्य काल है। द्रव्यों के विषय में ऐसे ज्ञान होते हैं कि 'यह इसके आगे हुआ था पीछे'—या 'ये दोनों साथ ही देख पड़े,'—'यह जल्दी

देख पड़ा, "वह देर से देख पड़ा" इन ज्ञानों का जो असाधारण कारण है उसी को वैशेषिकों ने "काल" माना है (सूत्र २-२-६)। द्रव्यों के जितने उत्पत्ति और नाश होते हैं किसी न किसी काल में होते हैं। इससे उन उत्पत्तिनाशों का भी कारण काल को माना है (सूत्र २-२-६)। क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, याम, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय इत्यादि शब्दों का जो प्रयोग होता है उसका भी असाधारण कारण काल ही है। संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग काल के गुण हैं। आकाश की तरह काल भी विभु अर्थात् सर्वव्यापी है। जहां जो कुछ है वह अवश्य किसी काल में है। इस से इसका भी परिमाण महत् परिमाण माना गया है। काल अमूर्त है। अतएव इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, केवल अनुमान ही होता है। यद्यपि असल में यह एक है तथापि उपाधियों के द्वारा क्षण इत्यादि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होता है। जैसे किसी काल में किसी वस्तु के उत्पन्न होने की सामग्री जुट गई है इसके बाद उस वस्तु के उत्पन्न होने तक जो सूक्ष्म काल है उसको क्षण कहते हैं। अर्थात् जैसे दिन में हमने बाग की तरफ आंख उठाई और फूलों को देखा। नज़र के फूलों पर पड़ने और उनके देखे जाने के बीच में जो सूक्ष्म काल हुआ वही 'क्षण' कहलाता है। दो क्षण का एक लव, दो लव का एक निमेष [आंख की पलक के गिरने में जितना काल लगता है], अठारह निमेष की काष्ठा, तीस काष्ठा की कला, तीस कला का मुहूर्त, साठ मुहूर्त का अहोरात्र (दिन रात), पन्द्रह अहोरात्र का पक्ष, दो पक्षका मास, दो मास का ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष—इत्यादि किरणावली में वर्णित है।

दिक्

सातवां द्रव्य दिक् है। जब हम लोग दो मूर्त्त पदार्थों को देखते हैं तब किसी एक को अवधि मान कर 'इससे वह द्रव्य पूर्व में है, वह पश्चिम में' इत्यादि ज्ञान होते हैं। इसी ज्ञान का असाधारण कारण दिक् है। काल और दिक् में यही मुख्य भेद है कि कालिकसम्बन्ध स्थिर रहता है और देशिकसम्बन्ध बदलता है, अर्थात् दो भाइयों में किसकी उत्पत्ति पहले और किसकी बाद को, कौन जेठा है कौन छोटा, यह ज्ञान कभी बदल नहीं सकता। जो पहिले होगया वह सदा पहि-

सेही रहेगा और जो पीछे होगया वह पीछे। यह काल द्वारा आगे पीछे का सम्बन्ध सदा एकसा बना रहता है । दैशिक सम्बन्ध ऐसा नहीं होता। चार चीजें एक जगह रक्खी है, उनमें पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर का सम्बन्ध अभी एक तरह का है। उनके स्थान को उलट फेर करदेने से जो पूर्व था वह पश्चिम होजायगा जो दक्षिण था वह उत्तर॥

संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग देश के गुण हैं। यह भी विभु और परम महान् और नित्य है। इसका भी प्रत्यक्ष नहीं केवल अनुमान होता है । यद्यपि देश एकही है तथापि महर्षियों ने मेरु को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर सूर्य के भ्रमण द्वारा दिशा के दश भेद माने हैं। और उनके नामभी सूर्यकी गति के अनुसार रक्खे हैं। जिधर सूर्य सबसे पहिले देख पड़ता है [प्रथमं अंचाति] उसका नाम है 'प्राची,' (पूर्व) जिधर सूर्य नीचे जाता है वह अवाची, (दक्षिण) इत्यादि।

आकाश और दिक् इन दोनों को अलग मानने के कई कारण हैं। आकाश केवल शब्द का समवायि कारण है। दिक् किसी वस्तु का समवायि कारण नहीं है। परन्तु सब कार्य्यों का निमित्त कारण है। आकाश का उसके शब्द गुण द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान भी माना जा सकता है दिक् का उसके कार्य्यों के द्वारा केवल अनुमान ही होता है।

आत्मा

आठवाँ द्रव्य आत्मा है। जिसमें ज्ञान उत्पन्न होता है, जो ज्ञान का समवायि कारण होता है-वही आत्मा है। काणादरहस्य में आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहा है। परन्तु यहां अधिकरण पद का समवायि कारण ही अर्थ है। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता—क्योंकि यह अमूर्त पदार्थ है। मूर्त पदार्थ ही का प्रत्यक्ष हो सकता है। कई नैयायिकों ने इसको प्रत्यक्ष माना है। परंतु वैशेषिक मत में आत्मा का अनुमान ही हो सकता है। किसी हथियार का व्यापार बिना कर्ता के नहीं होता—इन्द्रियां एक प्रकार के हथियार हैं-इससे इनके व्यापार का कोई कर्ता अवश्य होगा—यही कर्ता आत्मा है । फिर श्वास,प्रश्वास,निमेष, उन्मेष, सुख दुःख,

इच्छा, द्वेष,प्रयत्न का आधार कोई अवश्य होगा । यही आत्मा है। इसी से सूत्र ३-२-४ में सुख दुःख इत्यादि को आत्मा का 'लिंग' अर्थात् चिह्न कहा है । इसका तात्पर्य वर्णन करते हुए प्रशस्त-पाद ने कई अनुमान दिखलाये हैं।

(१) हित पदार्थ के पाने का और अहित पदार्थ के छोड़ने का व्यापार जो मनुष्य में शरीर का होता है उससे शरीर में कोई चेतन पदार्थ है यह सूचित होता है। जैसे अच्छे मार्ग पर जाना और बुरे मार्ग को छोड़ना—इस रथ के व्यापार से रथ के भीतर सारथीरूप चेतन पदार्थ है-यह सूचित होता है।

(२) श्वास प्रश्वास से जो शरीर फूलता है और संकुचित होता है—इससे यह सूचित होता है कि यह किसी चैतन्य वाले पदार्थ द्वारा होता है—जैसे भाथी का फूलना और संकुचित होना भाथी फूकने वाले के व्यापार से होता है।

(३) आंखों की पलकें गिरती हैं उठती हैं—इससे सूचित होता है कि जिस तरह कुवं में मोट का गिरना और उठना पानी खींचने वाले के व्यापार से होता है उसी तरह यहां भी कोई चेतन पदार्थ अवश्य है।

(४) शरीर में घाव लगता है और फिर भर जाता है। यह शरीर में स्थित आत्माही के द्वारा हो सकता है, जैसे घर में रहने वाला घर की मरम्मत करता है।

(५) जिस वस्तु के देखने की इच्छा होती है उसी वस्तु की ओर मन जाता है—यह व्यापार चेतन आत्माही का हो सकता है। यह व्यापार वैसाही है जैसे घर में बैठे हुए बालक का भिन्न भिन्न खिड़कियों की ओर ढेला फेंकना।

इन सब युक्तियों से मालूम होता है की वैशेषिकों के मत में प्रति शरीर भिन्न आत्मा है । आत्मा अनेक है यह सूत्र (३-२-१६–२१) में बतलाया है। भिन्न भिन्न शरीर की प्रवृत्ति सुख दुःख इत्यादि भिन्न होती हैं—इससे आत्मा एक नहीं हो सकता (सूत्र ३-२-२०) । और शास्त्रों में भी आत्मा को अनेक कहा है (३–२–२१) । प्रशस्तपाद भाष्य में जीवात्मा परमात्मा का

भेद नहीं किया है। भेद किया भी क्यों जाय? ज्ञानाधिकरण तो जैसे एक आत्मा वैसे सब। सुख दुःखादि जितने आत्मा के गुण हैं वे सब जैसे एक में वैसे सब में। और फिर वैशेषिक शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर या परमात्मा की चर्चा नहीं पाई जाती। पर नवीन ग्रन्थों में आत्मा के दो विभाग पाये जाते हैं। कणाद-रहस्य में शंकर मिश्र लिखते हैं—

'आत्मा के दो प्रकार हैं। एक तो 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् शरीरमात्र में उत्पन्न ज्ञान का ज्ञाता. और दूसरा 'सर्वज्ञ' सब जाननेवाला। [यही मुख्य भेद परमात्मा जीवात्मा में है। परमात्मा सर्वज्ञ है जीवात्मा अल्पज्ञ]'।

आत्मा के गुण—बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म संस्कार संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग, प्रशस्तपाद भाष्य में वर्णित हैं। जिन ग्रन्थकारों ने परमात्मा जीवात्मा का विभाग किया है उनके मत से ये सब गुण जीवात्मा ही के हैं—इन में से दुःख धर्म अधर्म ये तीन परमात्मा में नहीं हो सकते। परमात्मा में सुख है या नहीं इसमें मत भेद पाया जाता है।

परमात्मा, ईश्वर, संसार के कर्ता हैं इसका साधक आगम—वेद, और अनुमान है। पृथिव्यादि चार महाभूत कार्य अवश्य हैं, और जो कार्य है, जिसकी उत्पत्ति होती है, उसकी उत्पत्ति के पहिले उस का ज्ञान किसी को अवश्य होगा, घट का ज्ञान कुम्हार को होता है तब घट की उत्पत्ति होती है। इसी तरह पृथिव्यादि सकल पदार्थ का ज्ञान किसी आत्मा को अवश्य होगा। जिस आत्मा में यह ज्ञान होगा वही 'ईश्वर' परमात्मा है, इत्यादि न्यायकंदली में वर्णित है। (पृ० ५४)

महाभूतसृष्टि से पहिले यदि ईश्वर थे तो उनका शरीर क्या था, किस वस्तु का था—इस विषय में मत भेद है। अधिक ग्रन्थकारों का मत है कि शरीर की उत्पत्ति में आत्मा ही का धर्म अधर्म कारण होता है। ईश्वर को धर्म अधर्म नहीं। अतएव इनका शरीर भी नहीं हो सकता। कर्ता होने में शरीर का होना आवश्यक नहीं है (न्यायकंदली पृ० ५६)। कई ग्रन्थकारों का मत है कि संसार के जीवों

के धर्म अधर्म द्वारा ईश्वर शरीर ग्रहण करते हैं—ऐसे ही शरीर नाना प्रकार के अवतारों में कहे जाते हैं। किसी के मत से परमाणु ही ईश्वर के शरीर हैं। कुछ लोग आकाश को ईश्वर का शरीर कहते हैं।

मन

नवम द्रव्य मन है। हम बहुधा ऐसा देखते हैं कि इन्द्रियों के व्यापार रहते हुए भी उस इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होता है। जैसे मेरी आंखें खुली हुई हैं, घोड़ा भी मेरे सामने खड़ा है। पर मुझे घोड़े का ज्ञान नहीं होता-मैं घोड़े को नहीं देखता। इससे यह सूचित होता है कि वाह्य इन्द्रियों के अतिरिक्त कोई और भी पदार्थ है जिसके व्यापार विना ज्ञान नहीं हो सकता। फिर जिस वस्तु को मैंने आज देखा उसका स्मरण मुझे कुछ दिन बाद होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस स्मरण का भी करण कोई दूसराही है। यह करण,इन्द्रिय, वाह्य इन्द्रियों में से कोई नहीं होसकता। इससे एक आभ्यन्तर करण-अन्तःकरण, मानना आवश्यक है। इसी अन्तःकरण का नाम 'मन' है। मन 'इन्द्रिय' है ऐसा सूत्रों में नहीं कहा है। पर मनको प्रशस्तपाद भाष्य में 'करण' कहा है।

मन के गुण हैं—संख्या,परिमाण, पृथक्त्व,संयोग,विभाग, परत्व, अपरत्व,संस्कार। भिन्न भिन्न शरीर का व्यापार भिन्न भिन्न होता है इससे प्रति शरीर में एक एक भिन्न मन है। मन को वैशेषिकों ने अणु अति सूक्ष्म माना है। मनका संयोग सभी ज्ञान में आवश्यक होता है। यदि मन अणु न होता तो एक काल में अनेक ज्ञान एक आदमी को हो सकते। क्योंकि एकही काल में दो चार इन्द्रियों का संयोग मन से हो सकता। और इन संयोगों से इन सब इन्द्रियों द्वारा ज्ञान एकही क्षण में हो सकता। पर ऐसा होता नहीं है। एक क्षण में एकही ज्ञान होता है। इससे यह सूचित होता है कि एक क्षण में एकही इन्द्रिय का संयोग मन के साथ हो सकता है और यह तभी सम्भव है जब कि मन अणु है। इसी कारण से एक शरीर में एकही मन मानते हैं (सूत्र ३-२-३)।

मन नित्य है (सूत्र ३-२-२), मूर्त है, क्योंकि विना मूर्ति के क्रिया नहीं हो सकती।

दूसरा पदार्थ–'गुण'

जो द्रव्य में हो–जिसका अपना कोई गुण न हो-जो संयोग या विभाग का कारण न हो सके-वही गुण है (सूत्र १-१-१६)। जितने गुण हैं सभों में गुणत्व जाति है-वे सब द्रव्यों ही में पाये जाते हैं। उनके कोई गुण नहीं होते। उन में कोई क्रिया, चलनादि, नहीं पाई जाती (प्रशस्तपाद पृ. ९४)।

द्रव्य से गुण का मुख्य भेद यही है कि द्रव्य स्वयं आश्रय हो सकता है-गुण स्वयं आश्रय नहीं होसकता और विना किसी द्रव्य के आश्रय से रह भी नहीं सकता। गुण और कर्म का भेद इतना साफ नहीं है। सूत्रकार के लक्षणों से दोनों में इतनाही फरक मालूम होता है कि कर्म संयोग विभाग का कारण होता है, गुण नहीं। एक द्रव्य(घोड़ा) के चलन रूप कर्म से घोड़ा एक जगह छोड़ कर दूसरी जगह जाता है, अर्थात् एक जगह से उसका विभाग और दूसरी जगह से उसका संयोग चलनकर्म द्वारा होता है। दूसरा भेद यह मालूम होता है कि कर्म जितना है सब क्षणिक हैं, कुछही काल तक एक द्रव्य में रहता है, पर द्रव्य के गुण उसमें जब तक द्रव्य रहता है, या जब तक कोई दूसरा विरोधी गुण न उत्पन्न होजाय, तब तक बने रहते हैं।

सूत्र में १७ गुण बताये हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न। (सूत्र १-१-६)। प्रशस्तपाद भाष्य में ७ और बतलाये हैं-गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट, शब्द। इन में 'अदृष्ट' शब्द से धर्म अधर्म ये दो विवक्षित हैं। इससे २४ गुण हुए। और जितने गुण हो सकते हैं वे सब इन्हीं २४ के अन्तर्गत हैं।

गुण को निर्गुण बतलाया है (सूत्र १-१-१६)। फिर २४ गुण हैं-इसमें गुण की संख्या बतलाते हैं-संख्या एक गुण है, फिर गुण निर्गुण कैसे हुए? पर सूत्र में गुण १७ हैं ऐसा नहीं कहा है-केवल इतनाही कहा है कि ये ये गुण हैं। परन्तु भाष्य में स्पष्ट कहा है कि सूत्र में १७ गुण कहे हैं। इसका समाधान करने का प्रयत्न न्यायकंदली में किया गया है (पृ० ११)। "यद्यपि गुण निर्गुण हैं

तथापि ' गुण चौबीस हैं ' ऐसा कहा है-इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गुण में संख्यारूप एक गुण हैं । तात्पर्य इतनाही है कि जितने गुण हैं उनमें असाधारण धर्म वाले, अर्थात् जो किसी और गुण में अन्तर्गत नहीं किए जा सकते, २४, हैं । इस व्याख्या से असल शंका का समाधान नहीं होता । जब गुण २४ हैं तो फिर संख्या गुण में कैसे नहीं हुई ? जब गुणों का गिनाना आरम्भ हुआ तभी उनमें संख्या का होना आवश्यक हुआ ।

जैसे द्रव्यों में साधर्म्य-समान धर्मवत्त्व-का निरूपण हुआ है वैसे ही वैशेषिकों ने गुणों में भी किया है । (१) जितने गुण हैं सभी में 'गुणत्व' जाति है । सब द्रव्यों में आश्रित रहते हैं-सभी निर्गुण हैं-सभी में कोई क्रिया नहीं है-अर्थात् किसी भी गुण में चलन रूप क्रिया नहीं पाई जाती । (२) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग—ये ' मूर्त ' गुण कहलाते हैं । अर्थात् ये उन्हीं द्रव्यों में पाये जाते हैं जिनकी मूर्ति है—जिनका स्थूल रूप होता है—अर्थात् पृथ्वी जल वायु अग्नि और मनस इन्हीं में ये गुण पाये जाते हैं । (३) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म, संस्कार और शब्द—ये ' अमूर्त ' गुण हैं । अर्थात् ये उन्हीं द्रव्यों में पाये जाते हैं जिनका स्थूल रूप नहीं है । ये केवल आत्मा और आकाश में पाये जाते हैं । (४) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये गुण मूर्त अमूर्त सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं । (५) संयोग, विभाग, द्वित्व, द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व इत्यादि अनेक द्रव्यों में रहते हैं । अर्थात् ये कभी एकही द्रव्य में नहीं रह सकते । संयोग जब होगा तब दो या अधिक चीजों में । (६) इनके अतिरिक्त जितने गुण हैं, सब एक एक द्रव्य में पाये जाते हैं । (७) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व (स्वाभाविक)—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, शब्द ये 'वैशेषिक गुण' या 'विशेष गुण' कहलाते हैं । अर्थात् ये ऐसे गुण हैं जिनके द्वारा एक वस्तु दूसरी वस्तु से अलग समझी जाती है । इन्हीं गुणों के द्वारा द्रव्य एक दूसरे से अलग समझे जाते हैं । जैसे जब दो वस्तुओं में दो तरह का रूप, या रस या गन्ध इत्यादि पाया जाता है तभी एक का दूसरे से भेद समझा जाता है । इन्हीं गुणों के द्वारा वस्तुओं का 'विशेषण,' 'व्यवच्छेद'

होता है । इससे ये 'विशेष गुण' कहलाते हैं । (८) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (नैमित्तिक) वेग—ये 'सामान्य गुण', हैं, ये अनेक द्रव्यों में रहते हैं । इनके द्वारा द्रव्य एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, इन के द्वारा अनेक द्रव्य एक साथ समझे जाते हैं, जैसे संयोग के द्वारा दो या अधिक संयुक्त द्रव्यों का ज्ञान होता है । (९) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये एक एक कर एक बाह्य इन्द्रियों से गृहीत होते हैं । शब्द का ग्रहण केवल श्रवण इन्द्रिय से होता है, स्पर्श का त्वक् से, रूप का आँख से, गन्ध का घ्राणेन्द्रिय से । इनका ग्रहण दूसरी इन्द्रियों से नहीं हो सकता । (१०) संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग—इनका ग्रहण दो इन्द्रियों से होता है । इनका ग्रहण त्वचा और आँख से होता है । (११) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—इनका ग्रहण अन्तःकरण मन से होता है । कुछ दार्शनिकों का मत है कि बुद्धि का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसका अनुमान ही होता है । पर वैशेषिकों के मत में इसका प्रत्यक्ष ही होता है । (१२) गुरुत्व, धर्म, अधर्म, संस्कार—ये अतीन्द्रिय हैं, इनका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, इनका अनुमान होता है । (१३) वे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श जो अग्नि संयोग से नहीं उत्पन्न होते, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व, द्रवत्व, पृथक्त्व, स्नेह, वेग—ये 'कारणगुणपूर्वक' हैं । जिस किसी वस्तु में ये गुण पाये जाते हैं, उस वस्तु के कारण में, उनके परमाणुओं में, ये गुण रहते हैं, उसी के अनुसार उन द्रव्यों में भी पाये जाते हैं । जल के परमाणु में द्रवत्व है इसी से कूएं के पानी में भी वह गुण पाया जाता है । मिट्टी के ढेले में जो गन्ध है उसके परमाणुओं में ही वह है । (१४) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म अधर्म, संस्कार, और शब्द—ये 'अकारणगुणपूर्वक' हैं, जिन द्रव्य में ये होते हैं उनमें स्वयं रहते हैं उसके कारण में नहीं । आत्मा में जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह आत्मा के कारण में नहीं है । इसका कारण यह है कि जिन द्रव्यों में ये गुण पाये जाते हैं वे अमूर्त हैं, केवल आत्मा और आकाश में ये गुण हैं, इन द्रव्यों का कारण नहीं होता, इस से इनके गुण इनके कारण में हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता । (१५)

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा,द्वेष,प्रयत्न,धर्म,अधर्म,संस्कार शब्द जो परि-माण रूई के ढेर में पाया जाता है—एक संयोग से जो दूसरा सं-योग उत्पन्न होता है, द्रवत्व [नैमित्तिक], परत्व, अपरत्व-ये सब संयोगज हैं, दो द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होते हैं। बुद्धि से लेकर संस्कार तक जितने कहे गये हैं वे आत्मा—मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं, शब्द आकाश और ढोल के संयोग से, इत्यादि। (१६) संयोग और विभाग कर्म, चलनक्रिया, से उत्पन्न होते हैं। (१७) शब्द और एक विभाग से उत्पन्न जो विभाग होता है-ये 'विभागज' कहलाते हैं, इनकी उत्पत्ति किसी तरह के विभाग ही से होती है। (१८) परत्व,अपरत्व,द्वित्व,पृथक्त्व, इत्यादि 'बुद्ध्यपेक्ष' हैं-ज्ञानही के द्वारा इनकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् जब दो चीजों को कोई आदमी एक दूसरे से अलग सम-झता है तब इसी ज्ञान से उन चीजों में 'परत्व' गुण उत्पन्न होता है। (१९) रूप,रस,गन्ध,जो स्पर्श गरम नहीं होता,शब्द, परिमाण एकत्व,एक पृथक्त्व,और स्नेह, ये अपने सदृश गुण उत्पन्न करते हैं। (२०) सुख,दुःख,इच्छा,द्वेष, प्रयत्न-ये असदृश (अपने से दूसरी तरह के) गुण उत्पन्न करते हैं। कारण का रूप कार्य का रूप उत्पन्न करता है, मिट्टी में जो रूप रहता है उससे घट का रूप बनता है। पर सुख से सुख नहीं उत्पन्न होता है। सुख से इच्छा उत्पन्न होती है प्रयत्न से कर्म उत्पन्न होता है। (२१) संयोग विभाग, संख्या,गुरुत्व,द्रवत्व,गरम स्पर्श, ज्ञान,धर्म, संस्कार—ये अपने सदृश और अपने असदृश दोनों तरह के गुण उत्पन्न करते हैं। जैसे बांस के फटने से, उसके दलोंके विभाग से,शब्द उत्पन्न होता है और जब हम अपना हाथ किसी चीज पर से हटा लेते हैं तब हमारे हाथ के विभाग से हमारे शरीर का विभाग भी उत्पन्न होता है। धर्म से धर्म और सुख दोनों उत्पन्न होते हैं। (२२) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, संस्कार, शब्द—ये उन्हीं गुणों को उत्पन्न करते हैं जो उनके अपने ही आश्रय में रहें। जैसे किसी आत्मा में सुख रहता है वह सुख उसी आत्मा में इच्छा उत्पन्न करता है। (२३) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह, प्रयत्न—ये अपने आश्रय से दूसरी चीजों में गुण उत्पन्न करते हैं। जैसे मिट्टी के ढेले का गुण घट में रूप उत्पन्न

करता है । (२४) संयोग, विभाग, संख्या, एकपृथक्त्व, गुरुत्व द्रवत्व, वेग, धर्म, अधर्म–ये अपने आश्रय में भी और दूसरी चीजों में भी गुण उत्पन्न करते हैं । जैसे गाड़ी के अवयवों का वेग उन्हीं अवयवों में और वेग उत्पन्न करता है और गाड़ी में गमन क्रिया उत्पन्न करता है । (२५) गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संयोग—ये पतनादि क्रिया उत्पन्न करते हैं । ऊपर से जब चीज गिरती हैं उस गिरने का कारण उस वस्तु का गुरुत्व है । (२६) रूप, रस, गन्ध, अनुष्णस्पर्श, संख्या, परिमाण, एकपृथक्त्व, स्नेह शब्द-ये असमवायिकारण होते हैं । जैसे सुख का समवायि कारण हैं आत्मा और उसका असमवायिकारण है आत्मा, मनस का संयोग । (२७) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संस्कार-ये निमित्त कारण होते हैं । (२८) संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श गुरुत्व, द्रवत्व, वेग-ये असमवायि कारण भी होते हैं और निमित्त कारण भी। जैसे ढोल और लकड़ी का संयोग शब्द का निमित्त कारण और ढोल आकाश के संयोग का असमवायिकारण होता है । (२९) परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक-ये किसी तरह के कारण नहीं होते । (३०) संयोग, विभाग, शब्द, और आत्मा के विशेष गुण-ये अपने आश्रय के किसी एक भाग में रहते हैं । जैसे घड़ा और पृथिवी का संयोग घड़े की पेंदी में और पृथिवी के उसी छोटे हिस्से में रहता है । (३१) इनके अतिरिक्त जितने गुण हैं वे अपने अपने आश्रय के समग्र भाग में रहते हैं। (३२) जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श अग्नि के संयोग से नहीं उत्पन्न होते परिमाण-एकत्व-एक पृथक-स्वाभाविकद्रवत्व, गुरुत्व, स्नेह, ये जब तक इनके आश्रय रहते हैं तब तक बराबर रहते हैं । जब तक फूल रहता है तब तक उसका रंग रहता है । (३३) बाकी गुण आश्रयों के रहते भी नष्ट हो जाते हैं । जैसे अग्नि के संयोग से जो लोहे में लाल रंग होजाता है वह लोहे के रहते ही आग के हट जाने से नष्ट हो जाता है । (३४) जितने गुण हैं सभी में परस्पर वैधर्म्य यही है कि अपना अपना उनका स्वभाव पृथक् पृथक् होता है इससे उनके नाम भी 'रूप' 'रस' इत्यादि अलग अलग होते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्य में पृथक् पृथक् गुणों का निरूपण किया है—

इसका संक्षेप से कुछ हाल लिखना यहां पर आवश्यक है—

रूप (रंग)

गुणों में रूप का प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय (आंख)से होताहै। पृथ्वी जल, अग्नि इन्हीं तीनों द्रव्यों के देखने में रूप आंख का सहकारी होता है। रूप के देखे जाने में चार बातों की आवश्यकता है। (१) जिस वस्तु का वह रूप है उसका परिमाण महत् हो। इसी कारण से सूक्ष्म परमाणु का रूप नहीं देखा जाता। (२) रूप व्यक्त होना चाहिये। चक्षुरिन्द्रिय तैजस (अग्नि की बनी हुई) है इससे इसका रूप श्वेत अवश्य है परन्तु व्यक्त न होने के कारण दिखाई नहीं पड़ता। (३) रूप अनभिभूत रहना चाहिये। अर्थात् वह किसी प्रबल गुणान्तर से दबा न हो। जैसे मामूली अग्नि का श्वेत रंग उसमें मिले हुए पृथिवी अंश के रूपान्तर से ऐसा दबा रहता है कि हम उसे उजले के बदले लाल देखते हैं। (४) रूपत्व जाति। शब्द स्पर्श इत्यादि गुण आंख से नहीं देखे जाते, इसमें कारण यदि पूछा जाय तो यही कहा जा सकता है कि इनमें रूपत्व जाति नहीं है।

रंग के प्रकार का है सो प्राचीन ग्रन्थों में नहीं गिनाया है। शुक्ल आदि अनेक प्रकार के रंग हैं—प्रशस्तपाद ने इतना ही कहा है। तर्कसंग्रह में सात गिनाये हैं-शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, और चित्र। कुछ लोग चित्र रूप को एक रूप नहीं मानते क्यों कि रूप व्याप्यवृत्ति गुण है। अर्थात् जिस वस्तु में रहता है वह चीज समूची उसी रंग की रहती है। और चित्र रूप वाली वस्तु में कोई भी एक रंग समूची वस्तु में नहीं रहता।

और गुणों की तरह रूप भी नित्य द्रव्य में नित्य और अनित्य द्रव्य में अनित्य रहता है। ऐसा सूत्र ७। १। २-३ में कहा है। पर सूत्र ४ में कहा है कि नित्य जल, अग्नि, परमाणु का रूप नित्य है। परन्तु नित्य पृथ्वी परमाणु का भी रूप अनित्य होता है—ऐसा सूत्र ६ में कहा है। इस का कारण यह है कि पार्थिव जितनी वस्तुएं हैं उनका रंग अग्नि संयोग से बदलता है। इसी से पृथ्वी का रूप "पाकज" कहलाता है। घट का दृष्टान्त ले कर तो यह समझना सहज है। क्यों कि कच्चा घट काला रहता है और पकाने पर लाल हो जाता है। परन्तु पृथ्वी मात्र के रूप को पाकज मानना उतना

सहज नहीं है। खेत में जो ढेला पड़ा है उसका भी रंग पाकज है सो कैसे कहा जा सकता है। यदि कहें कि सूर्य की किरण में जो अग्नि है उसी अग्नि के संयोग से उस ढेले में भी रंग उत्पन्न हो गया है तो ऐसा तो जल वायु सभी के रंग के प्रसङ्ग में कहा जा सकता है।

जितने कार्य्यद्रव्य हैं उनका रूप कारणगुणपूर्वक माना गया है। अर्थात् घड़े में जो लाल रंग उत्पन्न होता है सो उसके परमाणुओं में उत्पन्न होने ही से उत्पन्न होता है। इस प्रसङ्ग में दो मत पाए जाते हैं। एक है 'पीलु पाक' दर्शन जिसका सिद्धान्त है कि कच्चा घड़ा जब आग में डाला जाता है तब उसका एक रंग नाश हो जाता है अग्नि के व्यपार से परमाणु सब विलग विलग हो जाते हैं और फिर केवल कच्चे पृथ्वी परमाणु रह जाते हैं। तब इन परमाणुओं में अग्नि के संयोग से काले रंग का नाश हो जाता है और दूसरा लाल रंग उत्पन्न होता है और ये परमाणु परस्पर मिलते हैं जिसमें द्वयणुकादिक्रम से फिर एक लाल रंग का घट उत्पन्न हो जाता है। 'पीलु' कहते हैं परमाणु को और इस मत में परमाणुओं ही का पाक माना गया है इससे इसको 'पीलु पाक मत' में कहा है। (प्रशस्तपाद १०६)। दूसरा 'पिठर पाक' मत है। इसमें घट का नाश नहीं माना गया है।अग्निसंयोग से भी घट ज्यों का त्यों बना रहता है केवल उसके छिद्रों के द्वारा गरमी प्रवेश कर के परमाणुओं के रंग को बदल देती है। इस मत वालों का यह कहना है कि यदि कच्चा घट नष्ट होकर दूसरा घट उत्पन्न हुआ माना जाय तो यह 'घट वही है जिसको मैंने कच्चा देखा था' यह बुद्धि जो होती है सो अशुद्ध होती है, ऐसा मानना पड़ेगा। प्रशस्तपादभाष्य (पृ० १०४) में कहा है कि रूप का नाश कार्य द्रव्यों में आश्रय के नाश ही से होता है। इसके अनुसार 'पीलु पाक ही मत सत्य है। क्योंकि जब तक कच्चे घट का नाश नहीं होगा तब तक उसके काले रंग का नाश कैसे हो सकता है। जब तक काले रंग का नाश नहीं होगा तब तक उसी द्रव्य में लाल रंग की उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

वैशेषिकों ने पीलुपाक ही मत को स्वीकार किया है। प्रशस्तपाद भाष्य (पृ० १०७) में पिठरपाक मत का निराकरण किया है।

जब तक समूचा घट बना है तब तक उसके कुल अंश में आग का जोर नहीं पहुंच सकता, और जब तक कुल परमाणु आग से स्पृष्ट न होंगे तब तक उनका रंग नहीं बदल सकता। यदि परमाणुओं के बीच में आग का प्रवेश माना जाय तो परमाणु जब तक एक दूसरे से पृथक् न हो जांय तब तक उनके बीच में आग का पहुंचना सम्भव नहीं है। और जब परमाणु परस्पर विभक्त हो गये तब समूचे घट का रहना असम्भव है। परमाणुओं के विलग होने ही से घट चूर चूर हो जाता है।

पिठर-पाक-वादी नैयायिक हैं। यही एक प्रधान विषय है जिससे न्याय और वैशेषिक पृथक् माने गये हैं। इनका कहना है कि यदि कच्चे घट का एक दम नाश हो गया तो जब घट पक कर लाल हो जाता है तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'यह वही घट है जिसको मैंने आग में डाला था'। क्योंकि जिसको आग में डाला वह तो नष्ट हो गया, उसके स्थान में दूसरा लाल रंग का घट उत्पन्न हो गया। पर इसका समाधान यह है कि दूसरा घट जो उत्पन्न हुआ सो पहिले से इतना मिलता हुआ पैदा हुआ कि इन दोनों का भेद मालूम नहीं होता इसीसे 'यह वही घट है' ऐसा भान होता है।

पीलुपाक वाद का मानना वैशेपिकमतावलम्बी का एक प्रधान चिंह कहा गया है।

> **द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे**
> **यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः।**

रस (दूसरा गुण)

रस का ज्ञान रसनेन्द्रिय जिह्वा से होता है, यह पृथ्वी जल इन द्रव्यों में रहता है, जिह्वा की मदद करता है, प्राणधारण, बल, आरोग्य पुष्टि इनका कारण है। मधुर (चीनी में) अम्ल (खट्टा) (नीबू में), लवण (नमक का), तिक्त (तीता) (नीम में), कटु (कडुआ) (मिर्चा में), और कषाय (आवला में) छ प्रकार का रस होता है। यह भी रूप की तरह नित्य अनित्य दोनो है। जल परमाणु का रस नित्य और पृथ्वी परमाणु में अनित्य है, क्योंकि पार्थिव चीज़ का रस अग्नि संयोग से बदल जाता है।

इसमें भी पीलु पाक ही का भ्रम है। परमाणुओं से अतिरिक्त स्थूल द्रव्यों का रस अनित्य है क्योंकि उन द्रव्यों के नाश से इनके रस का भी नाश हो जाता है।

गन्ध (३)

गन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय से होता है। यह पृथ्वी ही में रहता है। घ्राणेन्द्रिय की उसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने में मदद करता है। गन्ध नित्य नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी परमाणु ही इसका नित्य आश्रय है, तिस में भी यह अग्नि संयोग से नष्ट हो जाता है, फिर यह नित्य कहाँ रह सकता। इसी से रूप के सदृश नित्यानित्यत्व इसका भी है, सो प्रशस्तपाद ने नहीं कहा। केवल इतना ही कहा है कि इसकी 'उत्पत्त्यादि वैसी ही होती है'। अर्थात् जैसे पृथ्वी परमाणु में रूप अग्निसंयोग से नष्ट और उत्पन्न होता है उसी तरह गन्ध भी। (न्यायकंदली पृ. १०६)।

गन्ध दो प्रकार का है—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

स्पर्श (४)

स्पर्श का ज्ञान त्वगिन्द्रिय से होता है। पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन द्रव्यों में यह रहता है। त्वगिन्द्रिय द्वारा जितने प्रत्यक्ष ज्ञान होते हैं उन सभों में उस इन्द्रिय की मदद करता है। जिस जिस द्रव्य में रूप है वहां स्पर्श अवश्य है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जहां स्पर्श है वहां रूप अवश्य है। क्योंकि वायु में स्पर्श है पर रूप नहीं। वैशेषिकों ने तीन प्रकार का स्पर्श माना है—शीत (ठंढा) उष्ण (गरम) अनुष्णाशीत (न ठंढा न गरम)। महाभारत में १२ प्रकार का स्पर्श कहा है—

रूक्षः शीतस्तथैवोष्णः स्निग्धश्च विशदः खरः।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छलो दारुणो मृदुः॥

स्पर्श को 'वायव्य' (वायु का) गुण इस लिये कहा है कि रूपादि जो प्रधान गुण हैं उनमें से स्पर्श ही एक गुण पाया जाता है जो वायु ही में है।

स्पर्श भी नित्य वस्तु में, जलादि परमाणु में, नित्य है, और सर्वत्र अनित्य है। आश्रय के नाश से इसका भी नाश होता है।

पृथिवी के परमाणु में भी यह अनित्य है क्योंकि अग्निसंयोग से स्पर्श का उसमें नाश और उत्पत्ति होती है। नाश-उत्पत्ति इसमें भी पिलुपाक ही का क्रम है।

संख्या (५)

'एक दो तीन' इत्यादि व्यवहार जिसके द्वारा होता है उस गुण को 'संख्या' कहते हैं। पृथिव्यादि नवों द्रव्य में यह गुण रहता है। संख्या एक द्रव्य में भी रहती है और अनेक द्रव्य में भी। एकत्व संख्या नित्य वस्तुओं में नित्य है और अनित्य कार्यद्रव्य की एकत्व संख्या अनित्य है। एक से आगे 'द्वित्व' से लेकर परार्ध तक सब संख्याएं अनित्य हैं।

संख्या 'सामान्य' गुणों में से एक है। अर्थात् रूप रस आदि की तरह ऐसा नहीं कि जो रूप एक द्रव्य में है वही रूप दूसरे द्रव्य में नहीं हो सकता। एक ही संख्या—एक, या दो, या तीन—एक ही काल में कई द्रव्यों में रह सकती है। संख्या परिमाण इत्यादि कई गुण ऐसे ही हैं। इसका कारण यह है कि जिस तरह रूप रस गन्ध इत्यादि गुण की 'बाह्य' 'सत्ता' होती है—अर्थात् बाहर में पाये जाते हैं वैसे ही संख्यादि नहीं पाये जाते। इन गुणों की सत्ता ज्ञाता की बुद्धि ही पर निर्भर है। इसी से वैशेषिकों ने द्वित्यादि संख्या को 'अपेक्षाबुद्धिजन्य' बतलाया है। जब कोई चीज़ आंख के सामने आती है तब पहिले देखने वाले को सब का ज्ञान एक ही दम नहीं हो जाता है—पहिले एक एक का ज्ञान होता है—'यह एक है' 'वह एक है' इत्यादि—इसी कई एकत्व के ज्ञान को 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं। और जब दो एकत्व का ज्ञान होता है उसी ज्ञान से 'ये दो चीज़ें' ऐसा ज्ञान होता है। इसी से द्वित्व की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से मानी गई है। और जब अपेक्षाबुद्धि नष्ट हो जाती है—अर्थात् जब कि 'वह एक है—यह एक है' ऐसा ज्ञान दो चीज़ों के प्रसंग में नहीं रहता तब "ये दो चीज़ें हैं" यह ज्ञान भी नहीं रहता—अर्थात् द्वित्व नष्ट हो जाता है।

अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है इसी से द्वित्वादि संख्या कुल अनित्य हैं। जो जन्य है, जिसकी उत्पत्ति होती है, वह नित्य नहीं हो सकता।

यह भी नैयायिक वैशेषिक के मतभेद का एक स्थान है—

वैशेषिक में द्वित्यादि संख्या अपेक्षाबुद्धिजन्य है, अपेक्षाबुद्धि से इन की उत्पत्ति होती है। नैयायिकों के मत से ये उत्पन्न नहीं होते, अपेक्षा बुद्धि से केवल इन संख्याओं का ज्ञान होता है इस से ये 'अपेक्षाबुद्धिज्ञाप्य' हैं। वैशेषिकों के मत से द्वित्यादि संख्याओं की एक स्वयं स्वतंत्र संज्ञा होती है, न्याय मत में इनकी स्वतंत्र पृथक् संज्ञा नहीं है। एकत्व ही के अन्तर्गत ये सब हैं। जब कई एकत्व का ज्ञान होता है तब द्वित्वादि संख्या का ज्ञान मात्र होता है, ये स्वयं नहीं उत्पन्न होते।

परिमाण (६)

नाप जिस गुण के द्वारा होती है उसको 'परिमाण' कहते हैं। यह गुण पृथ्वी आदि नवों द्रव्यों में रहता है। यह चार प्रकार का है—अणु [छोटा], महत् [बड़ा], दीर्घ [लम्बा], ह्रस्व [नाटा]। 'बड़ा' दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। आकाश कालदिक् आत्मा—ये सब 'बड़े' और नित्य हैं, इस से 'बड़ा' परिमाण नित्य है, इसी को 'उत्तम बड़ा' भी कहते हैं। अनित्य बड़ा परिमाण त्र्यणुक से लेकर और सब स्थूल द्रव्यों में है, इसी को 'मध्यम' बड़ा परिमाण भी कहते हैं। इसी तरह 'छोटे' परिमाण भी परमाणु में और मन में नित्य हैं, इसी नित्य 'छोटे' परिमाण को अणुपरिमाण, या 'पारिमंडल्य' भी कहा है। अनित्य या 'मध्यम छोटा परिमाण केवल द्व्यणुक द्रव्य में है। द्व्यणुक का परिमाण 'छोटा' माना है क्योंकि द्व्यणुक का प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष उन्हीं वस्तुओं का होता है जिनमें 'महत्' या 'बड़ा' परिमाण है। मामूली पदार्थों में, आम, बैर, कटहल इत्यादि में जो 'छोटा' परिमाण कहा जाता है सो ठीक नहीं। क्योंकि जिस में 'छोटा' परिमाण रहेगा उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इससे 'बैर छोटा' है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बैर में 'छोटा' परिमाण है, अर्थ इतना ही है कि बैर में जो 'बड़ा' परिमाण है वह और बड़े बड़े फलों के सामने कुछ कम है। इसी तरह 'लम्बा' और 'नाटा' परिमाण भी समझना चाहिये।

परिमाण दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। नित्य की

तो उत्पत्ति नहीं होती। अनित्य परिमाण की उत्पत्ति तीन तरह से होती है–(१) संख्या से–द्व्यणुक में जो 'बड़ा' परिमाण उत्पन्न होता है सो द्व्यणुकों की संख्याही से होता है। तीन द्व्यणुकों के एकत्र होने से त्र्यणुक बनता है। (२) परिमाण से–जैसे बड़े बड़े सूतों से बुना हुआ कपड़ा बड़ा होता है। यहां पर कपड़े का परिमाण सूतों के परिमाण से उत्पन्न हुआ। (३) प्रचय या ढेरी से उत्पन्न–जैसे रूई के ढेर के ऊपर ढेर रक्खे जाते हैं तो थोड़ी देर में सब ढेर मिल कर एक बहुत बड़ा ढेर बन जाता है। इस बड़े ढेर का 'बड़ा' परिणाम कई ढेरों के मिलने से उत्पन्न हुआ।

उत्पन्न, अनित्य जितने परिमाण हैं उनका नाश तभी होगा जब जिस द्रव्य में वे हैं उसका नाश हो।

पृथक्त्व (७)

इस वस्तु का स्वभाव उस वस्तु के स्वभाव से दूसरी तरह का है यह बुद्धि जिस गुण के द्वारा होती है उसको पृथक्त्व कहते हैं। 'पृथक' और 'अन्योन्याभाव' में यह भेद है कि अन्योन्याभाव से 'घटपट नहीं है'–इससे घट क्या नहीं है इतनाही बोध होता है परन्तु पृथक्त्व के द्वारा जो वस्तु पृथक् कही जाती है उसके स्वभाव लक्षण का भी कुछ ज्ञान होता है। और अन्योन्याभाव से केवल बुद्धि गत भेद भासित होता है, पृथक्त्व से बाह्य शारीरिक भेद।

यह एक द्रव्य में और अनेक द्रव्यों में भी रहता है। इसकी नित्यता अनित्यता संख्या की तरह है।

संयोग (८)

दो वस्तुएं जो पहिले से अलग थीं यदि एक दूसरे से मिल जाँय तो इसी मिलने को संयोग कहते हैं। संयोग से द्रव्य उत्पन्न होते हैं जैसे परमाणुओं के संयोग से घटादि द्रव्य। संयोग से गुण भी उत्पन्न होते हैं। जैसे अग्नि के संयोग से घट में रूप गुण पैदा होता है। संयोग से कर्म भी उत्पन्न होता है। जैसे वृक्ष की पत्तियों का वायु से संयोग होता है तब उन पत्तियों में चलनक्रिया उत्पन्न होती है।

संयोग कभी भी नित्य नहीं होता। इससे दो भिन्न नित्य पदार्थों का सम्बन्ध कभी संयोग नहीं होसकता। क्योंकि ये कभी

अलग नहीं रह सकते फिर इनके सम्बन्ध में संयोग का लक्षण नहीं पाया जा सकता।

संयोग तीन प्रकार का है और तीन प्रकार से उत्पन्न होता है। (१) अन्यतरकर्मज—अर्थात् दो चीजों में से किसी एक की क्रिया से उत्पन्न—जैसे उड़ती हुई चिड़िया जब पेड़ पर आकर बैठ जाती है तब इन दोनों का संयोग चिड़िया की क्रिया से उत्पन्न हुआ। (२) उभयकर्मज—दोनों चीजों की क्रिया से उत्पन्न—जैसे दो भेड़ें दो तरफ़ से दौड़ कर आपस में टक्कर लड़ते हैं। इन दोनों का संयोग दोनों भेड़ों की क्रिया से उत्पन्न हुआ।(३) संयोगज—संयोग से उत्पन्न—जैसे कपड़ा जब बुना जाता है तब एक सूत बुनने वाले यंत्र में लगाया गया तब उस तन्तु से उस यंत्र का संयोग हुआ फिर जब दो ऐसे ऐसे सूत मिल कर 'दोसूती' पैदा हुई तब तक वे उस यंत्र में लगे ही रहे, तब उस 'दोसूती' का जो संयोग उस यंत्र से है सो पहिले वाले सूत का जो उस यंत्र के साथ संयोग था इसी संयोग से उत्पन्न हुआ।

संयोग का विनाश कभी तो संयुक्त वस्तुओं के अलग हो जानेसे होता है, जैसे जब लड़ते हुये भेड़े टक्कर लड़कर पीछे हट जाते हैं। और कभी संयुक्त वस्तुओं के नाश ही से, जैसे जब कपड़ा नष्ट हो जाता है तो उसके अन्तर्गत सूत्रों का संयोग भी नष्ट हो जाता है।

संयोग अव्याप्य वृत्ति है। जिस वस्तु में रहता है उसके एकही अंश में रहता है, जैसे दो भेड़ों का संयोग केवल उनके सिरही पर रहता है, समस्त शरीर में नहीं।

विभाग (९)

जब दो वस्तु मिली हुई हैं यदि वे अलग हो जायँ तो इसी अलग होने को विभाग कहते हैं। केवल संयोग के अभाव ही को 'विभाग' नहीं कहते। यदि ऐसा कहते तो संसार में जितनी चीजें अलग अलग हैं उन सभों में 'विभक्त' का व्यवहार होता, पर ऐसा नहीं है। दो मिली हुई वस्तुओं ही के अलग होने को 'विभाग' कहा है। यह भी तीन प्रकार का है—(१) अन्यतर-कर्मज—पेड़ पर से जब चिड़िया उड़ जाती है तब पेड़ से चिड़िया का विभाग चिड़िया की क्रिया से होता है। (२) उभयकर्मज—

लड़ते हुए भेड़े जब लड़ कर दोनों पीछे हटते हैं तब इन दोनों का विभाग दोनों के कर्म से होता है । (३) विभागज विभाग—जैसे घड़े के परमाणुओं में जब चलन क्रिया उत्पन्न हुई तब एक परमाणु और परमाणुओं से अलग हो गया, फिर ये दोनों अलग हुये परमाणु जिस आकाश भाग से अलग हो जाते हैं, यह परमाणु का उस आकाश प्रदेश से विभाग दोनों परमाणुओं के परस्पर विभाग से उत्पन्न हुआ ।

नैयायिकों ने इस विभागज विभाग को नहीं माना है । इसका कारण यह है कि अवयवों से अवयव का (परमाणु का घट से) विभाग यदि माना जाय तो इनके बीच जो समवाय रूप नित्य सम्बन्ध माना गया वह कैसे हो सकता है । समवाय तो उन्हीं दो वस्तुओं के बीच रह सकता है जो कभी एक दूसरे से अलग नहीं रह सकती हैं ।

इसका उत्तर प्रशास्तपादभाष्य (पृ. १५२) में दिया है कि 'कभी अलग नहीं' इसका अर्थ यह नहीं है कि अलग अलग चल न सकें, ऐसा समवाय तो केवल नित्य द्रव्यों ही में हो सकेगा । अनित्य द्रव्यों का 'समवाय' 'कभी अलग नहीं होने का अर्थ यह है कि ये कभी भी भिन्न भिन्न आश्रय में नहीं पाये जाते, जब पाए जांयगे तब एक ही आश्रय में । इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय और शरीर का सम्बन्ध यद्यपि ऐसा है कि शरीर से अलग त्वगिन्द्रिय चल नहीं सकता तथापि इनका सम्बन्ध समवाय नहीं माना गया है, क्योंकि इनका आश्रय अलग अलग है । त्वगिन्द्रिय का आश्रय शरीर है और शरीर का आश्रय आकाश है ।

वैशेषिक सूत्र में तीनों माना है (७ । २ । १०)

परत्व अपरत्व (१०—११)

जिन गुणों के द्वारा 'आगे पीछे' का ज्ञान होता है उनको 'परत्व' 'अपरत्व' कहते हैं । 'आगे' के ज्ञान का कारण अपरत्व है और पीछे के ज्ञान का कारण परत्व है । ये गुण पृथिवी, जल, वायु, तेज इन्हीं द्रव्यों में रहते हैं । क्योंकि ये ही द्रव्य परिमित प्रदेश में रहते हैं । नित्य विभु द्रव्यों में आगे पीछे का भेद नहीं हो सकता ।

परत्व अपरत्व दो प्रकार के होते हैं । कालसम्बन्धी और देशसम्बन्धी। दो वस्तुओं में से जो मेरे नज़दीक होगी, जिसके और मेरे

बीच के देशका परिमाण मेरे और दूसरी वस्तु के बीच के देश से कम होगा तो वह वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा 'अपर' कहलायेगी और दूसरी वस्तु 'पर'। इसी तरह जिस वस्तु के उत्पन्न होने के काल से आज तक का समय दूसरी वस्तु की उत्पत्ति से आज तक के समय की अपेक्षा अधिक है तो वह वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा 'पर' (दूर) कहलावेगी और दूसरी वस्तु 'अपर' (नज़दीक) मानी जायगी।

देशसम्बन्धी परत्व अपरत्व के ज्ञान के द्वारा यह ज्ञान होता है कि कौन सी वस्तु किस दिशा में है। और कालसम्बन्धी परत्व अपरत्व के ज्ञान से यह ज्ञान होता है कि कौन सी वस्तु की क्या वय है।

परत्व अपरत्व के ज्ञान में भी अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा होती है। जब तक दो तीन वस्तुओं के प्रति ये पृथक् पृथक् एक एक वस्तु हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता तब तक कौन सा पर है और कौन सा अपर सो ज्ञान नहीं हो सकता। और इन गुणों की उत्पत्ति में देशसंयोग कालसंयोग की भी आवश्यकता है। इसीसे अपेक्षाबुद्धि के नाश से संयोग के नाश से और वस्तुओं ही के नाश से इन गुणों का नाश माना गयाहै (प्रशस्तपाद पृ० १६४)

सुख (१२)

(सूत्र और भाष्य में अपरत्व के बाद 'बुद्धि' कहा है। परन्तु बुद्धि के प्रकरण में प्रत्यक्षादि सकल प्रमाण का निरूपण होगा इससे सन्दर्भ में त्रुटि हो जायगी इससे बाकी सब गुणों का निरूपण करके अन्त में बुद्धि का विचार होगा।)

'सुख' का लक्षण सूत्र में कुछ नहीं पाया जाता। भाष्य में 'अनुग्रह लक्षणं सुखम्' ऐसा लक्षण कहा है, अर्थात् जिससे अनुभव करने वाले के ऊपर किसी की कृपा सूचित हो। ऐसा अर्थ कंदली में पाया जाता है। परंतु लक्षण न्यायबोधिनी का ठीक मालूम पड़ता है। जिसके पाने की इच्छा स्वतंत्र उसी के लिये होती है, वही सुख है। सुख की इच्छा किसी दूसरे वस्तु की इच्छा पर नहीं निर्भर है। संसार में जितनी चीज़ों के पाने की इच्छा हम करते हैं वह केवल उन वस्तुओं ही के पाने के लिये नहीं, किन्तु उन चीज़ों से जो कुछ सुख हमें मिलेगा उसी सुख की इच्छा से उन चीज़ों की

इच्छा चाहते हैं । सुख की इच्छा ऐसी नहीं है । सुख की इच्छा केवल सुख ही के लिये होती है ।

माला चन्दन इत्यादि अभीष्ट वस्तु के पाने पर उन वस्तुओं का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होता है, फिर पूर्व जन्म कृत धर्म के ज़ोर से आत्मा मन का संयोग होता है, इन कारणों से एक चित्त में ऐसा भाव उत्पन्न होता है जिससे मनुष्य के चेहरे पर एक तरह का उजियाला छा जाता है। इसी भाव को 'सुख' कहते हैं"। (प्रशस्त-पाद. पृ. २५६)

वर्तमान जितनी चीज़ें हैं" उनकी प्राप्ति से इस प्रकार सुख इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होता है । भूत वस्तुओं से सुख उनके स्मरण से ही होता है । और भविष्यत् वस्तुओं से सुख उनके प्रसंग संकल्प–पाने की इच्छा–करने से होता है । ज्ञानियों को जो केवल ध्यानादि से अपूर्व सुख मिलता है उसका कारण उनकी विद्या, ज्ञान, शम, सन्तोष और विशेष प्रकार का धर्म है ।

दुःख (१३)

किसी तरह का अभिघात हानि जिससे सूचित हो उसी को दुःख कहते हैं । जिसका द्वेष स्वतंत्र उसी के द्वारा हो वही दुःख है । और चीज़ों पर द्वेष केवल उनके दुःख उत्पन्न करने पर निर्भर है। जब विष इत्यादि अनभिप्रेत वस्तु सामने आती है तब उस वस्तु का इन्द्रियों के साथ संयोग होता है, फिर पूर्व जन्म कृत अधर्म के द्वारा आत्मा मन का संयोग द्वारा एक ऐसा भाव चित्त में उत्पन्न होता है जिससे आदमी के चेहरे पर दीनता और मलिनता छा जाती है– इसी भाव को 'दुःख' कहते हैं । वर्तमान काल की वस्तु से दुःख प्रत्यक्ष होता है, भूत वस्तुओं से स्मृति द्वारा और भविष्यद् वस्तुओं से संकल्प द्वारा ।

इच्छा (१४)

जो वस्तु अपने पास नहीं है उसके मिलने के लिये जो प्रार्थना अपने लिये या दूसरे के लिये चित्त में उठती है–उसी को 'इच्छा' कहते हैं । जब किसी वस्तु के द्वारा सुख मिल चुका है तब जब कभी वह वस्तु सामने आती है या उसका स्मरण होता है तब उस

से प्राप्त सुख का भी स्मरण होता है, फिर आत्मा मन के संयोग से उस वस्तु के पाने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, वही 'इच्छा' है। यह इच्छा स्वार्थ भी है-' मुझे यह वस्तु मिले,' और परार्थ भी 'फलाने आदमी को यह मिले'। प्रयत्न, स्मरण, धर्म, अधर्म इतने इच्छा के फल होते हैं। जब किसी वस्तु के पाने की इच्छा होती है तब उसके पाने के लिये प्रयत्न किया जाता है। जब किसी वस्तु के स्मरण करने की इच्छा हुई तो उस वस्तु का स्मरण होता है। स्वर्ग पाने की इच्छा से यज्ञादि करने से धर्म उत्पन्न होता है। निषिद्ध कर्म के करने की इच्छा से अधर्म होता है।

इच्छा अनेक प्रकार की है—

स्त्री सुख की इच्छा को 'काम' कहते हैं। भोजन की इच्छा को 'अभिलाष'। फिर फिर किसी वस्तु का सुख मिले ऐसी इच्छा को 'राग' कहते। जो वस्तु अभी नहीं है, आगे आने वाली है, उस वस्तु के अभी प्राप्त करने की इच्छा 'संकल्प,' अपनी इच्छा का कुछ भी विचार न कर दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा 'कारुण्य,' वस्तुओं का दोष देखकर उन वस्तुओं को अपनी ओर से हटाने की इच्छा को 'वैराग्य' दूसरों को ठगने की इच्छा, 'उपधा' बाहर व्यक्त नहीं हुई मन ही में छिपी हुई इच्छा को 'भाव' किसी काम के करने की इच्छा को 'चिकीर्षा' कहते हैं, स्त्री की पुरुष विषयिणी इच्छा को भी, 'काम' कहते हैं। इस प्रकार इसके अनन्त भेद हैं।

द्वेष (१६)

किसी वस्तु को देखकर या उसका स्मरण होने पर चित्त में जो जलन पैदा होती है इसी जलन को 'द्वेष' कहते हैं। जब किसी से अपने को दुःख पहुंचा है तब फिर जब कभी वह वस्तु सामने आती है या उसका स्मरण होता है तो उस दुःख का भी स्मरण होता है। फिर आत्मा मन के संयोग से द्वेष उत्पन्न होता है। यह भी इच्छा की तरह प्रयत्न स्मृति धर्म और अधर्म को उत्पन्न करता है। द्वेष भी कई प्रकार का होता है।

प्रयत्न (१७)

'प्रयत्न' कहते हैं संरम्भ को, उत्साह को। अर्थात् जब किसी

काम करने को चित्त उत्तेजित होता है इसी उत्तेजित उत्साहित होने को 'प्रयत्न' कहते हैं ।

प्रयत्न दो प्रकार का है—(१) जीवनपूर्वक यह प्रयत्न है जिससे सोये हुये आदमी का श्वास पर श्वास चलता है, या जागते हुये आदमी का भी जिस प्रयत्न के द्वारा मन का संयोग इन्द्रियों के साथ हुआ करता है। इस प्रयत्न की उत्पत्ति धर्म अधर्म के द्वारा आत्मा मन के संयोग से होती है। (२) इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न वह है जिसके द्वारा इष्ट वस्तु के पाने के लिये और अनिष्ट वस्तु को दूर करने के लिये व्यापार किया जाता है। इसकी उत्पत्ति इच्छा या द्वेष के द्वारा आत्मा मन के संयोग से होती है।

गुरुत्व (१८)

जलीय और पार्थिव पदार्थ जिस गुण के द्वारा ऊपर से नीचे गिरते हैं उसी गुण को 'गुरुत्व' कहते हैं। इस गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता । कोई वस्तु जब गिरती देख पड़ती है तब इसी गिरने से यह अनुमान किया जाता है कि इसमें गुरुत्व है क्योंकि बिना गुरुत्व के गिरना असम्भव है। संयोग प्रयत्न और वेग से इस गुण का व्यापार रोका जाता है । जैसे मकान की छत पर जब आदमी चढता है तब जो अपने गुरुत्व से वह नीचे नहीं गिर जाता इसका कारण यही है कि उस समय उस आदमी का छत के साथ संयोग है। शरीर खड़ा रहता है इस का कारण शरीर वाले का प्रयत्न ही है । धनुष से जब बाण छूटता है तब बाहर निकलते ही वह नहीं गिर जाता है इसमें कारण उस बाण का वेग ही है । ज्योंही वेग समाप्त होता है त्योंही बाण जमीन पर गिर पड़ता है। पृथिवी और जल परमाणु के गुरुत्व नित्य हैं और स्थूल वस्तुओं में अनित्य हैं। आश्रय विनाश ही से गुरुत्व का विनाश होता है।

द्रवत्व (१९)

जिस गुण के द्वारा वस्तुओं का स्यन्दन, बहना, होता है उसे 'द्रवत्व' कहते हैं । पृथिवी,जल, अग्नि इन तीन द्रव्यों में द्रव्य रहता है। द्रवत्व दो प्रकार का है-सांसिद्धिक और स्वाभाविक।

और नैमित्तिक, किसी कारण से उत्पन्न । स्वाभाविक द्रवत्व केवल जल ही में है नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी और जल में है ।

वर्फ का टुकड़ा यद्यपि जल का विकार है इसमें स्वाभाविक द्रवत्व है परंतु जल परमाणु अग्नि के संयोग से ऐसे परस्पर संयुक्त हो जाते हैं कि इस संयोग से जलपरमाणु का स्वाभाविक द्रवत्व तव तक रुक जाता है ।

पृथिवी और तेज में अग्नि संयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है । द्रवत्व की उत्पत्ति रूप की तरह होती है । अर्थात् किसी पार्थिव वस्तु में-लाह में-जब द्रवत्व उत्पन्न होगा तब अग्नि संयोग द्वारा उस वस्तु का नाश होगा फिर उस वस्तु के परमाणुओं में द्रवत्व उत्पन्न होगा-फिर द्रवत्व सहित परमाणुओं का संयोग होकर-फिर से द्रवत्वगुणवाली वस्तु उत्पन्न हो जायगी ।

स्नेह (२०)

स्नेह-चिकनाहट-जल का विशेष गुण है । यह वही गुण है जिसके द्वारा वस्तुओं का संग्रह (कई पिंडों का एक साथ मिलकर एक पिंड वन जाना), सफाई और कोमलता उत्पन्न होते हैं। यह भी परमाणुओं में नित्य और स्थूल वस्तुओं में अनित्य है-आश्रयनाश से इस का भी नाश होता है ।

संस्कार (२१)

संस्कार तीन प्रकार का होता है (१) वेग-(२) भावना-(३) स्थितिस्थापक ।

(१) इनमें से वेग-'तेजी'-पांचो मूर्त द्रव्यों में-पृथिवी जल वायु अग्नि और मन-में खास खास कारणों से उत्पन्न होता है । इससे द्रव्यों के संयोग का नाश होता है ।

(२) अनुभव-प्रत्यक्षादि-होने के वाद जो उन अनुभवों का कुछ अंश चित्त में रह जाता है-उसी के द्वारा उन अनुभूत वस्तुओं का स्मरण होता है और ये फिर पहिचाने जाते हैं । उसी को 'भावना' कहते हैं-उसका 'वासना' भी दूसरा नाम कहा गया है । सामान्यतः 'संस्कार' नाम से भी यही संस्कार प्रसिद्ध है । यह संस्कार केवल आत्मा में रहता है । वार वार जिस वस्तु का अनुभव होता है उससे उस वस्तु की भावना चित्त में वन जाती है । जिस

अनुभव का चित्त पर बड़ा असर पड़ता है उसकी भी भावना दृढ़ उत्पन्न होती है। जिस वस्तु के देखने की बड़ी अभिलाषा हो उस वस्तु को जब लोग देखलेते हैं तो इस अनुभव से भी दृढ वासना उत्पन्न होती है।

(३) स्थिति स्थापक संस्कार उस लपक (लचक) को कहते हैं जिसके द्वारा रबड का टुकड़ा खींचे जाने के बाद फिर पुराने स्वरूप पर आजाता है। यह संस्कार उन्हीं द्रव्यों में रहता है जिन का स्पर्श होता है-पृथिवी जल वायु और अग्नि में। इसकी नित्यता अनित्यता गुरुत्व की तरह होती है।

अदृष्ट-धर्म-अधर्म (२२)

जो काम आदमी करता है वह भला या बुरा होता है। और हर एक काम के करने से उस आदमी के चित्त पर एक तरह का असर पड़ता है-इसी असर को 'अदृष्ट' कहा है क्योंकि यह देखा नहीं जा सकता। अच्छा काम करने से जो असर या संस्कार पैदा होता है उसको 'धर्म' कहते हैं और बुरे काम के असर को 'अधर्म'। ये दोनों मनुष्य के आत्मा के गुण हैं। क्योंकि कर्मों का असर शरीर पर नहीं रहता-शरीर नष्ट होजाने पर धर्म अधर्म का फल भुगता जाता है। इससे आत्माही के ये धर्म-अधर्म गुण माने गए हैं।

आदमी का प्रिय-हित सब वस्तु और मोक्ष धर्म से सिद्ध होता है। चरम ज्ञान से और चरम सुख से धर्म का नाश होता है, अर्थात् चरम सुख जब मिल गया तब सब धर्म का मानो फल प्राप्त हो चुका फिर और धर्म बाकी नहीं रह जाता। इसी तरह जब तक सुख उत्पन्न करनेवाले धर्म का कुछ भी लेश बाकी रह जायगा तब तक मोक्ष नहीं होगा। इससे जब मोक्ष होगा तब धर्म बाकी नहीं रहेगा।

धर्म के साधन भिन्न भिन्न जाति भिन्न भिन्न आश्रमों के लिये पृथक पृथक कहे गए हैं। श्रौतस्मृति में विहित-करने योग्य उपभोग के योग्य प्राप्त करने के योग्य-जितने द्रव्य गुण और कर्म हैं ये सब धर्म के साधन होते हैं। धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणियों

पर दया, सत्य बोलना, चोरी से बचना, इन्द्रियनिग्रह, छल न करना, क्रोध का रोकना, स्नान, पवित्र द्रव्य का भोजन पान, देवता विशेष पर भक्ति, उपवास, आचरण में सावधानी—ये सब मनुष्यों के लिये सामान्यधर्म के साधन होते हैं । इनके अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के लिये यज्ञ करना, वेद पढ़ना दान करना, ब्राह्मणों के लिये इनके अतिरिक्त पढ़ना और दान लेना, क्षत्रियों के लिये प्रजापालन, दुष्टों को दंड देना,युद्ध में डटे रहना, वैश्यों के लिये वाणिज्य, खेती, शूद्रों के लिये और वर्णों की सेवा, पृथक् पृथक् आश्रम के धर्म यों हैं । ब्रह्मचारी के लिये-गुरु के पास रहना, गुरु शुश्रूषा, सेवा, भिक्षाचरण, मद्य मांस स्त्री का वर्जन सब तरह की शानदारी से हटे रहना । गृहस्थ स्नातकों के लिये, विवाह, सद्वृत्ति से उपार्जित धन से अपने को और अपने कुटुम्ब को पालना, सब प्राणियों को और देवताओं को बलि देना, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, मनुष्ययज्ञ और भूतयज्ञ नित्य करना अग्निहोत्र इत्यादि । वानप्रस्थ के लिये. वनवास, वृक्ष की छाल पहिनना, बाल न काटना, वन में उत्पन्न पदार्थों ही से देव और अतिथि पूजन करके अपनी जीविका निवाहना । संन्यासी के लिये—सब जन्तुओं को अभय देना, यमनियमासनादिसेवन । ऊपर कहे हुए साधनों के द्वारा आत्मा मन के संयोग होने पर आत्मा में धर्म गुण उत्पन्न होता है ।

अधर्म भी आत्मा का गुण है । करने वाले के अहित अप्रिय का कारण होता है । चरम दुःख और चरम ज्ञान से यह नष्ट होता है । शास्त्र में प्रतिषिद्ध जितने द्रव्यगुण कर्म हैं इनका सेवन अधर्म का कारण होता है । धर्म के जितने साधन कहे गये हैं इनके विरुद्ध जितने द्रव्यगुण कर्म हैं, वे अधर्म के कारण हैं । जैसे हिंसा, चोरी करना, शास्त्र विहित कर्म का न करना इत्यादि । इन कारणों के द्वारा आत्मा मन के संयोग से आत्मा में अधर्म गुण उत्पन्न होता है ।

अदृष्ट, धर्माधर्म, संसार में जन्म का और संसार से मुक्ति का भी कारण होता है ।

जब तक आदमी को असल ज्ञान नहीं प्राप्त होता तब तक राग और द्वेष उसके चित्त में बने रहते हैं । ऐसा आदमी जब

अधिकतर धर्म करता है और थोड़ा सा अधर्म का अंश भी रहता है तब मरने पर ऐसे आदमी का आत्मा अपने अदृष्ट के अनुसार शरीर धारण करके ब्रह्मलोक में या इन्द्रलोक में या मनुष्य लोक ही में शरीर इन्द्रियों के द्वारा सुख भोग करता है। और जब इस के अधिक अधर्म और थोड़ा ही धर्म रहता है तब क्षुद्र जन्तुओं के शरीर में नाना प्रकार के दुःख भोग करता है । इसी तरह धर्म अधर्म के द्वारा आत्मा स्वर्ग लोक में या पृथिवी में सुख दुःख भोगने के लिये जन्मग्रहण करता है।

जब तत्त्वज्ञान प्राप्त होगया तब अज्ञान के नष्ट हो जाने से राग द्वेष भी नष्ट होजाते हैं। फिर इनके दूर होजाने से नया धर्म अधर्म उत्पन्न नहीं होता। पहिले का जितना धर्म अधर्म है उनके फल का जब भोग समाप्त हो जाता है तब वे धर्म अधर्म भी नष्ट होजाते हैं। आगे सुख दुःख उत्पन्न करनेवाले धर्म अधर्म तो होते ही नहीं फिर किस वास्ते ऐसे आत्मा का जन्म होगा। फिर वर्तमान शरीर के नष्ट होजाने पर उसका जन्म नहीं होता। यही उस आत्मा का 'मोक्ष' हुआ।

शब्द (२१)

शब्द आकाश का गुण है। इसका प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। एक क्षणमात्र यह अवस्थित रहता है। इसका नाश इसी से उत्पन्न शब्दान्तर से होता है।

शब्द दो प्रकार का है—वर्णरूप और ध्वनिरूप। 'अकार' 'ककार' इत्यादि वर्णों के उच्चारण में जो शब्द उत्पन्न होता है सोही वर्ण-रूप है। शंख इत्यादि के बजाने से जो अस्पष्ट शब्द होता है उसी को 'ध्वनि' कहते हैं। वर्णलक्षण शब्द की उत्पत्ति स्मृति के द्वारा आत्मा मनस के संयोग से उत्पन्न होती है। पहिले वर्ण उच्चारण करने की इच्छा होती है, फिर उच्चारण करनेवाले का प्रयत्न, फिर इस प्रयत्नवान् आत्मा का शरीरस्थ वायु से संयोग, इस संयोग से वायु में चलन क्रिया—यह वायु उदर से ऊपर को चलकर कण्ठ तालु आदि मुख के नाना स्थानों में लगता है। इन स्थानों से वायु का संयोग होता है और फिर इन्हीं स्थानों से आकाश का

संयोग होता है। इन्हीं दोनों संयोगों के द्वारा वर्णरूप शब्द की आकाश में उत्पत्ति होती है। ध्वनिलक्षण शब्द भी ढोल और लकड़ी के संयोग से और ढोल आकाश के संयोग से, आकाश में उत्पन्न होता है। जब शब्द किसी एक स्थान में उत्पन्न होता है वहां से शब्द के तरंग आकाश मंडल में एक के बाद एक क्रम से उत्पन्न होते हुए जब कर्णस्थ आकाश देश में पहुंच जाते हैं तब उस कर्ण से उस शब्द का ग्रहण होता है।

बुद्धि (२४)

'बुद्धि' ज्ञान का नामान्तर है। ज्ञान दो प्रकार के होते हैं— अविद्या और विद्या। अविद्या चार प्रकार की है, संशय, विपर्यय अनध्यवसाय, स्वप्न। संशय और अनध्यवसाय में भेद यह है कि यह जो मैं देखता हूं सो चीज गाय है या बैल है' ऐसा रूप संशय का है, जिसमें सन्दिग्ध दो पदार्थों का ज्ञान भासित होता है। अनध्यवसाय में किसी भी पदार्थ का ज्ञान भासित नहीं होता। 'यह क्या है' यही स्वरूप अनध्यवसाय का है।

विद्या चार प्रकार की है, प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, आर्ष।

प्रत्यक्ष और अनुमान का वर्णन न्यायदर्शन प्रकरण में सविस्तर किया गया है। इससे पुनरुक्तिभिया यहां लिखना अनावश्यक है। नैयायिकों के 'शब्द' प्रमाण को वैशेषिकों ने अनुमानही में अन्तर्गत माना है। जैसे अनुमान में व्याप्तिज्ञान से ज्ञान उत्पन्न होता है वैसे ही शब्द ज्ञान में भी व्याप्तिज्ञान ही कारण है। जैसे अनुमितिज्ञान में साध्यसाधन की व्याप्ति ज्ञान का कारण होता है वैसा ही शब्द अर्थ की व्याप्ति का ज्ञान शाब्दज्ञान का कारण है। जब हम यह जान लेते हैं कि जहां धूम है वहां आग अवश्य है तभी धूम देखकर आग का अनुमितिज्ञान होजाता है। उसी तरह जब हमको यह ज्ञान होजाता है कि 'घट' शब्द घड़ा ही का बोधक है, जब किसी आदमी को घड़ा की चर्चा करनी होगी तब 'घट' यही शब्द का उच्चारण करेगा, तभी हमको 'घट' शब्द के सुनने से घड़े का शाब्दज्ञान होगा।

उपमान को वैशेषिक "शब्द" में अन्तर्गत करते हैं। 'गाय के सदृश गवय है' यह जो शहरवाले आदमी को गवय को देखे विना गवय

का ज्ञान होता है सो तभी होगा जब उसको कोई गवय देखने वाला विश्वासपात्र आदमी कहेगा, की गवय गाय के सदृश होता है । इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'शाब्द' है । और शाब्द ज्ञान अनुमान है । क्योंकि जब कभी शब्द सुनकर निश्चितज्ञान मेरे मन में होगा तब अवश्य मेरे मनमें यह युक्ति आवेगी 'यह जो बात इस आदमी ने कही सो अवश्य सत्य है, क्योंकि यह सत्यवादी है' । यह स्पष्ट अनुमिति ज्ञान का स्वरूप है ।

अर्थापत्ति और अभाव को भी नैयायिकों की तरह वैशेषिक अनुमान में अन्तर्गत मानते हैं ।

स्मृति को नैयायिकों ने अप्रमाण माना है, परंतु वैशेषिकों ने इसको विद्या हो एक का प्रकार माना है । (प्रशस्तपाद प० १८६, २५६) ।

शास्त्र प्रवर्तक ऋषियों को भूत भविष्यत् अतिन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान उनके विलक्षणधर्म के द्वारा होता है, इस ज्ञान को 'आर्ष' 'प्रातिम' ज्ञान कहते हैं । (प्रशस्तपाद पृ. २५८)

तीसरा पदार्थ । कर्म

द्रव्य और गुण का विचार होगया । तीसरा पदार्थ 'कर्म' पांच प्रकार का है । एक कर्म एक ही द्रव्य में रहता है, सो भी मूर्त ही द्रव्य में । सब कर्म क्षणिक हैं । कर्म में गुण नहीं होता । गुरुत्व द्रवत्व प्रयत्न और संयोग से कर्म उत्पन्न होता है । अपने से उत्पन्न जो संयोग उसी से कर्म का नाश होता है । संयोग और विभाग को उत्पन्न करता है । कर्म असमवायि कारण होता है । अपने आश्रय में और दूसरे आश्रय में समवेत कार्य को उत्पन्न करता है ।

कर्म के पांच भेद हैं—[१] उत्क्षेपण, ऊपर जाना । [२] अपक्षेपण. नीचे जाना । [३] आकुञ्चन, सकुच जाना । [४] प्रसारण. फैलना । [५] गमन, चलना ।

ये पांचो तरह के कर्म तीन तरह के होते हैं–[१] सत्प्रत्यय ज्ञानपूर्वक । जैसे जब हम जानकर अपना हाथ उठाते हैं तब हाथ का

ऊपर जाना सत्प्रत्यय उत्क्षेपण हुआ। [२] असत्प्रत्यय, अज्ञानपूर्वक जैसे मैंने जानकर एक रबरके गेंदा को ऊपर फेंका, यह तो सत्प्रत्यय कर्म हुआ लेकिन फिर गिर कर जो वह गेंदा उछला तो यह कर्म असत्प्रत्यय हुआ। ये दो तरह के कर्म चेतन शरीर में या तत्सम्बद्ध वस्तुओं ही में होगा। [३] अप्रत्यय, अचेतन द्रव्यों का कर्म।

कर्म के ये कारण हैं–[१] नोदन अर्थात् ढकेलना, जैसे पंक में पैर डाला तो पंक हिल जाता है। [२] गुरुत्व. जैसे घट के आधार को हटा लिया तो घट अपने गुरुत्व के द्वारा नीचे गिर गया। [३] वेग या संस्कार, जैसे धनुष से छूटा हुआ बाण दूर तक चला जाता है। [४] प्रयत्न-मैंने प्रयत्न किया तो मेरा हाथ उठ गया।

श्वास में जो वायु का गमन रूपकर्म होता है उसका कारण है जागते हुए प्राणी में आत्मा वायु के संयोगपूर्वक प्रयत्न। और सोते हुये प्राणी में आत्मा वायु संयोगपूर्वक प्रयत्न। जिस प्रयत्न से प्राणी जीवन धारण करता है।

आकाश काल दिक् आत्मा इनमें कर्म नहीं हैं, क्योंकि ये अमूर्त हैं। मूर्ति उन्हीं द्रव्यों में होती है जिनका परिमाण अल्प है। जो द्रव्य सर्वव्यापी है उसकी मूर्ति नहीं हो सकती। मन में मूर्ति है. इसमें कर्म भी है। इसी मन के कर्म से मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। आत्ममनः संयोग पूर्वक इच्छा या द्वेष से मन में कर्म उत्पन्न होता है। मन में अपसर्पण और उपसर्पण रूप कर्म होते हैं। आत्ममनःसंयोगपूर्वक अदृष्ट-द्वारा जब किसी आदमी के जीवनधारण में कारण भूत धर्माधर्म नष्ट होगये तब जीवनधारण का प्रयत्न भी बन्द हो जाता है। फिर उसके प्राण के निरोध में कारणभूत धर्माधर्म जोर डालते हैं। इन्हीं के जोर से आत्ममनःसंयोग द्वारा मृत शरीर से जो मनस निकल जाता है उसी कर्म को 'अपसर्पण' कहते हैं। उसी धर्माधर्म के द्वारा उस मन का उस आत्मा के अतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर से सम्बन्ध होता है। इसी शरीर और मनस के द्वारा उस आत्मा को स्वर्ग और नरक का भोग होता है। पुनः शरीर ग्रहण के कारण भूत धर्माधर्म के जोर का अवसर आने पर फिर वह मन दूसरे स्थूल

शरीर से सम्बन्ध होता है । इसी को 'उपसर्पण' कहते हैं ।

चौथा पदार्थ सामान्य

'सामान्य' जाति को कहते हैं । जिसके द्वारा अनेक वस्तु एक समझी जाती हैं । जैसे दश मनुष्य एक इसीसे समझे जाते हैं कि वे मनुष्य हैं, इससे 'मनुष्यत्व' एक जाति हुई ।

जाति दो तरह की है—अपर अर्थात् छोटी । और पर अर्थात् बड़ी । 'मनुष्यत्व' जाति पर हुई 'ब्राह्मणत्व' जाति की अपेक्षा, और अपर हुई 'जीवत्व' जाति की अपेक्षा । 'सत्ता' जाति एक ऐसी है जिससे 'पर' और कोई जाति नहीं है । और 'सत्ता' जाति के द्वारा केवल कई वस्तु एक समझी जासकती हैं, इसके द्वारा कोई वस्तु किसी वस्तु से भिन्न नहीं समझी जाती । जैसे 'ब्राह्मणत्व' जाति के द्वारा ब्राह्मण लोग और मनुष्यों से अलग समझे जाते हैं ।

द्रव्य, गुण, कर्म इन्हीं तीन पदार्थों में जाति होती है ।

कई वस्तुओं में किसी एक गुण के होने ही से उस गुण के द्वारा उन वस्तुओं की एक जाति नहीं मानी जाती । और अगर कोई वस्तु एक ही है तो उस की जाति नहीं मानी जाती । फिर पृथक् पृथक् जाति ऐसी ही मानी जा सकनीं जिनमें परस्पर हेर फेर या मिल जाने का सन्देह न रहे । जैसे 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' दो जाति नहीं हैं क्योंकि आकाश में भूतत्व है पर मूर्तत्व नहीं, मन में मूर्तत्व है भूतत्व नहीं पर, पृथिवी जल वायु में दोनों हैं । इससे ये दोनों एक दम पृथक् नहीं मानी गई हैं ।

ऐसे ऐसे गुण जो कई वस्तुओं में हों पर जिनके द्वारा स्वतन्त्र जाति नहीं कल्पित की जाती, ये 'उपाधि' कहलाते हैं ।

जाति नित्य है परस्पर भिन्न है । एक है ।

पांचवां पदार्थ विशेष ।

'सामान्य' का विरोधी विशेष है । जैसे दस चीजों को एक मानने का कारण सामान्य होता है वैसेही जिसके द्वारा कोई वस्तु और सब वस्तुओं से अलग मानी जाय उसको 'विशेष' कहते हैं । परन्तु गुण बहुत से ऐसे ही हैं कि यद्यपि कई चीज़ों से कुछ

चीजों को अलग करते हैं परन्तु इन कई चीजों में समान पाये जाते हैं। इससे ये गुण सामान्य के भी कारण होजाते हैं। और 'सामान्य-विशेष' ऐसी मिली हुई संज्ञा इन की होती है। जैसे लाल रंग लाल वस्तु को और रंग की वस्तुओं से अलग करता है, पर कुल लाल वस्तुओं में समान है। इसी से असल विशेष वेही हैं जिनके द्वारा केवल वस्तु औरों से पृथक् समझी जाय। ऐसे गुण केवल वेही हो सकते हैं जो कि परमाणुओं ही में हैं। एक द्रव्य के परमाणु में जो गुण हैं वेही 'विशेष' कहलाते हैं। या नित्य द्रव्य जो हैं आकाश, काल, दिक्, आत्मा, इन्हीं के गुण 'विशेष' हो सकते हैं। मन अणु है इससे मन का गुण भी 'विशेष' हो सकता है। इससे जितने परमाणु हैं उन सभों में पृथक् पृथक् कोई कोई ऐसे गुण हैं जिनके द्वारा एक परमाणु दूसरे से अलग समझा जाता है। आकाशादि नित्य द्रव्य में भी कई गुण होंगे जिन से एक नित्य द्रव्य दूसरे नित्य द्रव्य से अलग समझा जाता है। इन्हीं गुणों को 'विशेष' कहते हैं। इन विशेषों का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल योगियों ही को हो सकता है। हम लोग केवल उनका अनुमान कर सकते हैं।

विशेषों के मानने ही से प्रायः इस दर्शन के मानने वाले 'वैशेषिक' कहलाते हैं। परंतु कणाद सूत्र में विशेष का लक्षण नहीं पाया जाता है। केवल सूत्र १२ में विशेष की चर्चा पाई जाती है जहां पर सामान्य गुणों के वर्णन के अवसर में इनको अन्य विशेष से अलग कहा है। इसी मूल पर प्रशस्तपाद ने विशेषों का स्वीकार कर पहिले पहिल इसका लक्षणादि किया।

समवाय प्रकरण।

नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। जैसे अवयव और अवयवी का सम्बन्ध। जब दो वस्तु कभी एक दूसरे से अलग नहीं पाई जाती तब उन दोनों के इस सम्बन्ध को 'अयुतसिद्धि' या 'समवाय' कहते हैं। संयोगादि सम्बन्ध का नाश होता है। समवाय का नाश नहीं होता। इसी से संयोगादि से इसको पृथक् सम्बन्ध माना है।

समवाय सम्बन्ध द्रव्यों में किसी सम्बन्ध से नहीं रहता। यदि ऐसा होता तो अनन्त सम्बन्धों की कल्पना आवश्यक होती

जैसा शंकराचार्य ने शा[illegible] । इससे प्रशस्तपाद भाष्य में कहा है कि द्रव्यों में जो समवाय रहता है वह तादात्म्य रूप से अर्थात् द्रव्यों से पृथक् समवाय नहीं है। जैसे द्रव्यादि में सत्ता किसी सम्बन्धान्तर से नहीं रहती, द्रव्य है इसी से उस में सत्ता है इसी तरह, जब दो द्रव्य कभी पृथक् नहीं रहते, बस इतने ही में इन में समवाय सम्बन्ध है ऐसा माना जाता है।

समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता। समवाय एक ही है।

॥ इति ॥